



**जैनेन्द्र**

**अर्थ, कथाकार और चिंतक**



साहित्यकार-प्रमनन्त प्रथमाला—२

जैनेन्द्र : व्यक्ति, कथाकार और चिन्तक

सम्पादक  
कविबिहारी भट्टनागर

नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली

प्रकाशक

हिन्दी-भवन, नई दिल्ली के निमित्त  
मैदान पब्लिशिंग हाउस  
चन्द्रलोक अबाहरमगर,  
दिल्ली-७

विन्नी-केन्द्र नई संस्कृत दिल्ली-६

प्रथम संस्करण

जनवरी १९६३

मूल्य

पाँच रुपये

मुद्रक

भारत मुद्रणालय

लाहौर दिल्ली १२

## निवेदन

मैं साहित्यकार को राजनीतिज्ञ से उतना ही ऊँचा मानता हूँ जितना ऊँचा सागर-तल से हिमालय है। यही कारण है कि मेरे दमस्त को गहरी ओट लगती है जब मैं देखता हूँ कि भारतवर्ष में साहित्यकार पर राज नीतिज्ञ बर्दे की कुई की तरह छाते बसे जा रहे हैं। यह दुःख है या अशुभ यह तो मैं नहीं जानता किन्तु इसमें समझ नहीं कि साधारण-से-साधारण राजनीतिज्ञ के बीटे-पीठे फिरना और बड़े से बड़े साहित्यकार को उदासीनता की दृष्टि से देखना किसी स्वस्थ राष्ट्रीय परम्परा का चोकर नहीं है।

इस से भी अधिक दुःख मुझे लगता है जब मैं देखता हूँ कि जब तक साहित्यकार जीवित रहता है तब तक बहुधा उस के प्रतिष्ठान को खोकार करना भी बिबाद का विषय बनी रहता है और जब वह हमारे बीच से उड़ जाता है तब एकएक हम जैसे सोते से जाग उठते हैं और हम से हम कुछ समय के लिए उसकी विदवाबनी की धनधोर बर्पा कर हासते हैं। यतः जीवित साहित्यकारों का सम्मान करने की एक नियमित परिपाटी बनाने की आकांक्षा मेरे मन में बहुत दिनों से रही है। यह पुस्तक उसी आकांक्षा का प्रतीकमात्र है। मैंने निश्चय किया है कि राजधानी के हिन्दी-मन्त्रालय की ओर से—जिसकी स्थापना आज से बारह बय पुर बरित बनारसीदास धनुर्वेदी ने की ओर जिसके संस्थान का भार संयोजक आचार्य मेरे कंधों पर है—हम से कम बार साहित्यकारों का अभिनन्दन प्रतिपद किया जाए, जिसमें एक साहित्यकार अहिंसे भावी भी हो। इस अभिनन्दन-योजना में एक छोटी-सी ऐसी पुस्तक का प्रकाशन भी सम्मिलित है, जिसमें अभिनन्दन-समारोह में भाग लेने वाले व्यक्तियों के परिचयन अन्य साहित्य प्रसिद्धों की भी अभिनन्दित साहित्यकार क जीवन, व्यक्तित्व और दृष्टि की छोटी-बहुत प्राथमिक जानकारी प्राप्त हो जाए। अन्ततः स्थिति और कवि नाम की जो पुस्तक डा० हरिवंशराय

प्रकाशक

हिस्सी-मदन, नई दिल्ली के निमित्त

मेरानस पब्लिशिंग हाउस

चन्द्रलोक बवाहुरनगर

दिल्ली-७

बिबी-केन्द्र नई सड़क दिल्ली-६

प्रथम संस्करण

जनवरी १९६५

मूल्य

पाँच रुपये

मुद्रक

भारत मुद्रणालय

छाहदरा दिल्ली १९

## निवेदन

मैं साहित्यकार को राजनीतिज्ञ से जتنا ही ज़ेंचा मानता हूँ जितना ज़ेंचा सागर-तल से हिमालय है। यही कारण है कि मेरे अक्षर को गहरी छोट लगती है जब मैं देखता हूँ कि भारतवर्ष में साहित्यकार पर राज-नीतिज्ञ दर्द की छुई की तरह छाते बसे जा रहे हैं। यह मुम है या अशुभ, यह तो मैं नहीं जानता किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि साधारण-से-साधारण राजनीतिज्ञ के बीछे-पीछे फिरना और बड़े से बड़े साहित्यकार को जरा-सीनता की दृष्टि से देखना किसी स्वस्थ राष्ट्रीय परम्परा का चेतक नहीं है।

इस से भी अधिक दुःख मुझे तब होता है जब मैं देखता हूँ कि जब तक साहित्यकार जीवित रहता है तब तक बहुधा उस के अस्तित्व को स्वीकार करना भी विचार का विषय बनी रहता है, और जब वह हमारे बीच से उठ जाता है तब एकएक हम बंते छोटे से भाग चले हैं और कम से कम कुछ समय के लिए उसकी विदवाहनी को घनघोर वर्षा कर डालते हैं। अतः जीवित साहित्यकारों का सम्मान करने की एक निश्चित परिचायी डालने की आकांक्षा मेरे मन में बहुत दिनों से रही है। यह पुस्तक उसी आकांक्षा का प्रतीकमात्र है। मैंने निश्चय दिया है कि राजपानों के हिन्दी-भवन को और से—जिसकी स्थापना आज से बारह वर्ष पूर्व बंकिम बनारसदास चतुर्वेदी ने की और जिसके संश्लेष का भार संयोजन आचलन मेरे कंधों पर है—कम से कम बार साहित्यकारों का अभिनन्दन प्रतिवर्ष दिया जाए, जिनमें एक साहित्यकार अहिन्दी-भाषी भी हो। इस अभिनन्दन-योजना में एक छोटी-सी ऐसी पुस्तक का प्रकाशन भी सम्मिलित है जिससे अभिनन्दन-समारोह में भाग लेने वाले व्यक्तियों के प्रतिवित्त अथवा साहित्य-प्रमियों को भी अभिनन्दन साहित्य के जीवन अविश्व और दृष्टि की छोटी-बहुतशास्त्रिकताएँ मिलती जाएं। 'अभिनन्दन : अर्थ और बर्ण' नाम की जो पुस्तक इस दृष्टिकोण



‘ब्रह्मचर्य’ की १७वीं वर्षादि के अवसर पर २७ नवम्बर, १९६४ को प्रकाशित हुई थी, वह इसी निरूपण से हमारा प्रथम मन्त्र प्रयास था ।

प्रस्तुत पुस्तक उसी श्रृंखला की दूसरी कड़ी है । इसमें नये-पुराने भेदों के भाष्यम से ब्रह्मचर्य के कथाकार और चिन्तक रूप को प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है । यदि इसकी उपयोगिता प्रथम पुस्तक ही की भाँति सिद्ध हो सके तो मैं अपने को कृतकृत्य मानूँगा ।

द्वितीय भवन नई दिल्ली

दाँकेविहारी भटमागर

२ जनवरी १९६५

## क्रम

### जीवन और व्यक्तित्व

जैनेन्द्र जीवन व्यक्तित्व और कृतित्व पर सर्वांगीण दृष्टि	प्रो० पद्मसिंह शर्मा 'कर्ममोक्ष'	३
बचपन की मसकियाँ	महात्मा महाबानशीन	१६
जैनेन्द्र कुमार व्यक्तित्व की एक झंकी	डा० दाम्निप्रसाद वर्मा	२६
हमारा साम्यत्व जीवन	भगवती जन	३७
उपवास नहीं, दुःख-मसाई	कबिराज रघुजीतप्रसाद जन	४५

### मूल्यांकन

हिन्दी में जैनेन्द्र कुमार को नहीं है	श्री अज्ञेय	५१
जीवन-धर्मी उपन्यासकार जैनेन्द्र	डा० रामरतन भट्टनायर	५६
कहानीकार जैनेन्द्र और उनकी वैचारिक पुद्गमि	श्री सम्मयनाथ गुप्त	६६

### जैनेन्द्र की कहानियों में बौद्धिक और दार्शनिक तत्व

	डा० रामचरण महेन्द्र	७४
समय और हम	श्री मोरारजी देसाई	७८
जैनेन्द्र की दृष्टि में 'समय और हम'	डा० विश्वेन्द्र स्नाउक	७९

### जैनेन्द्र जी की दार्शनिक विचार-धारा साय प्रकाश 'निसिम्ह'

जैनेन्द्र जी की महात्मागता	डा० राजेश्वर मुख	८४
जैनेन्द्र की प्रेमियाँ	प्रो० मणमण्डलरथ बौद्ध	८८

### सृजन

स्वयं घपनी दृष्टि में	भा जैनेन्द्र कुमार	१०१
विचार-धारा	श्री जैनेन्द्र कुमार	१०६
दो प्रतिनिधि कहानियाँ	भा जैनेन्द्र कुमार	११६
प्रकाशित ग्रंथों की सूची		१२१



जीवन और व्यक्तित्व





श्री गुरु



# जैनेन्द्र ' जीवन, व्यक्तित्व और कृतित्व पर सर्वांगीण दृष्टिपात

—डा० पर्याप्तहर्ष दामा 'कमलेश्वर'

(श्री जैनेन्द्रकुमार का जन्म २ जनवरी सन् १९०१ को कौड़ियारगंज (जिला समीप) में हुआ था। नाम रखने का पंथित न भविष्यवाणी की थी कि वह अपने पिता के लिए मारी होगी। इससे उन के पिता का मन भर गया। पंडितों की भविष्यवाणी सच निकली। उन के पिता सन् १९०७ में जब जैनेन्द्र की केवल दो वर्ष के थे चल बसे। इस प्रकार जैनेन्द्र की बहुत ही छोटी आयु में पिता के प्यार से वंचित हो गए और उन की दिला-बीछा तथा पालन-पोषण का भार उन के मामा और माँ के कंधों पर पड़ा। मामा ने उन्हें इतना प्यार दिया कि पन्द्रह वर्ष की अवस्था तक वह यही न समझ सका कि मामा मामा हैं या पिता। बारह पिता के मरने के बाद ही वह मामा के यहाँ चले आए थे। मामा का नाम महारामा भगवानदीन था जो पाँची-दरशन और चम्पारनोन्मुप प्रवृत्ति में उन मन से रहे हुए थे। उन के जीवन का जैनेन्द्र जी पर गहरा प्रभाव है।

उन के मामा ने हस्तिनापुर में एक दुग्धमूल की स्थापना की थी। उसी में उन की पढ़ाई प्रारम्भ हुई। तब उन की उम्र काई सात वर्ष की थी। यही उन का प्रमत्ती नाम भगवानदीन महाराज कर 'जैनेन्द्र' रखा गया और बाद में प्रत्यक्ष से 'कुमार' जुड़ कर 'जैनेन्द्रकुमार' हो गया।

प्रारम्भ में जैनेन्द्र जी पढ़ने-लिखने में बहुत तेज नहीं थे और हर विषय में मोल थे। उस समय उन के मामा ने उन्हें एक पत्र लिखा जिसे पढ़ कर वह रो उठे और तब से कभी बला में लीकड़ नहीं आए। तीसरी बला में प्रथम घाते पर भी वह बहुत छोटी होने के कारण वह घाय की कला में नहीं बड़ाए गए।

बुद्धि प्रारम्भ के ही प्रसरण थी पर पढ़ने लिखने की ओर से सापरवाही रुक कर गयी। जैनेन्द्र की मंजू और दर्दीमि भी बहुत थे। वह सब से कम उम्र में



थे। बेस-कूब में भी नहीं जाते थे। मंदिर में जाना भी उन्हें घब्राना नहीं लगता था। लेकिन वह माबुक बहुत थे। इस का प्रमाण उस समय की एक घटना है। कहते हैं कि जब उन्हें गुरुकुल गए केवल एक वर्ष हुआ था तब मन्दिर में 'धार्मिक पुराण' पढ़ा जा रहा था और पढ़ने वाले थे महारमा भगवानदीन जी। पुराण में भरत बाहु-बलि का प्रसंग आया तब जैनस्य जी की आँखों से आँसुओं की बारा बहने लगी। उस प्रसंग में उनके मन को ऐसा हुआ कि आये जम कर सन् १९१४ में 'बाहु-बलि' नाम से उन्होंने ने एक कहानी लिखी।

सन् १९१८ में गुरुकुल बन्द हुआ तब उन की पढ़ाई का काम टूट गया। वह दिल्ली अपनी माता बीमती रामदेवी बाई के पास आ गए। माता जी उन दिनों एक महिलाधर्म की संचालिका थीं। माता जी ने उन्हें मास्टर बलवन्तसिंह नामक एक सज्जन के पास विजयनगर मेज दिया। जैनस्य जी चाहते थे कि उन के पास रह कर वह मैट्रिक की परीक्षा दें। किन्तु उन्हें कम थी इसलिए उन्हें मैट्रिक में न बैठने देने का विचार किया गया। इस पर वह क्रोध रोए। अन्त में सन् १९१९ में उन्होंने ने पंजाब से मैट्रिक किया। छठी वर्ष दिल्ली में पाँची जी के पकड़े जाने पर गोलो बनी थी। अष्टा-वार पर गोली चलने के समय जैनस्य जी बही थे।

## साहसी और विदुषी माँ की सन्तान

जैनस्य जी की माता अत्यन्त कुशल बल और साहसी थीं। उन की व्यावहारिक सूक्ष्म-बुद्धि इतनी थी कि सन् १९१० से महारमा भगवानदीन जी ने घर उन्हीं पर छोड़ दिया था। जैनस्य जी के नामा इंजीनियर थे और भिन्न भिन्न प्रान्तों में भूमे थे। इसलिए उन की माता जी भी उधार बिचारों की हो गई थीं। विषय होने के बाद न केवल भाई की बहूस्त्री की उन्होंने ने समाना करने स्वयं धर्मयत्न किया और वह एक महिलाधर्म की संचालिका बन गई (जिस महिलाधर्म की वह संचालिका थीं वह दिल्ली में महाड़ी बीरब पर था) उस में पहले वह बम्बई में लाइसेंस में सेठ मालिक जग्न की सुपुत्री सुधी महल बाई के आश्रयधर्म में रह कर पढ़ी थीं और वहाँ से इन्दौर के सेठ बलवन्तस्य के आश्रयधर्म की संचालिका बनी थीं। वह साहसी इतनी थी कि जब उन के भाई पंजाब मार्चस-सा में पकड़े गए तब वह साठ साहस से मिलने आ पहुँची थीं। इसी प्रकार एक बार बेटुम के प्रबन्ध कलक्टर के घर वह राती बाँधने चली गईं थीं और कापेस का पन्ना बसूल कर लाई थी। वह जम्मा रुपयों की रात में नहीं था सेवों की रात में था जिन्हें उन्होंने ने धा कर सबसेवकों में बाँट दिया था। राजनीति में सक्रिय योग

देना उन का स्वभाव था और आशय को सड़कियों में भी देना—अग्नि की भावना उन्हीं ने व्यक्त की। )

इस प्रकार की बिजुपी और बेधमकत में के पुत्र जनेन्द्र ने मट्टिक पास कर के प्रांगे की पढ़ाई के लिए बाकी विद्वत्विद्यालय में प्रवेश लिया। लेकिन असहयोग आन्दोलन के प्रति सहानुभूति होने के कारण वह पढ़ाई छोड़ कर चल पाए। यह बात सन् १९२० की है। तब जनेन्द्र जी की समझ में नहीं आता था कि क्या करें। इसलिए उन्होंने सोचा असो लाला साबितराय के 'तिसक स्कूल आफ पॉलिटेक्निक' में ही भरती हो जाएं। वहाँ वह गए भी पर मन नहीं लगा और उसे छोड़ कर वह चले आए।

उन्हीं दिनों की बात है। वह अपनी मामी जी को नागपुर से आते हुए जयपुर रहे। तब 'कर्मवीर' जयपुर से निकलता था और पं० माधनलाल जनुबंदी उस के सम्पादक थे। वह पं० माधनलाल जनुबंदी के पास ही ठहरे थे। वहाँ उन्हीं ने स्वर्गीया मुमताकुमारी चौहान को देखा। मुमता जी के व्यक्तित्व से वह प्रसिद्ध हो गए और उन्हें लम्बा वैसे वह हिमालय की चोटी पर खड़ी है और वह नीचे। यह अपने को अवधार्य मानने लगे वहाँ तक कि सड़कों में खेलने तक वहीं जात थे। जब पं० माधनलाल जनुबंदी गिरफ्तार हो गए तब वह मामी जी को नागपुर छोड़ कर बिलासपुर गए, वहाँ माधनलाल जी का मुकदमा चल रहा था। इन बीच वह मुमता जी के साथ बिलासपुर में वापस का काम करने लगे। कुछ दिन बाद वह नागपुर चले गए। वहाँ से ग्रहमहाबाद वापस-अभियोग में गए। इधर से उन की माता जी भी वहाँ पहुँची और अभियोग के बाद उन्हें सिखा सारें।

जब जनेन्द्र जी दिल्ली आते तब उन की माता जी ने उनके लिए फर्नीचर का एक कारखाना चुनवा दिया। इस कारखाने का भी एक इतिहास था। बात यह हुई कि एक सज्जन महारमा भगवानदीन जी कि बिट्टी ने कर उन की माता जी के पास दिल्ली आए। इन महारमा को महारमा जी ने छात्रवृत्ति की व्यवस्था करके बड़ौदा की सिफारिश की। माता जी ने इस काम के लिए रुपया दे दिया और वहाँ और कंधे से प्रारम्भ करके फर्नीचर का कारखाना खोल कर दिया गया। जनेन्द्र जी मासिक समयमें जाते थे। काम चलता चल निकलता था कि सन् १९२३ में महारमा भगवानदीन जी का एक सार उन्हें नागपुर से बिना और वह नागपुर पहुँच गए। नागपुर में उस समय मण्डा-मरणाग्र चल रहा था। उन्हीं ने मण्डा-मरणाग्र में संवादनाता का कार्य किया। सरकार संवादनाताओं से घबराए की। परिणामस्वरूप वह और उन के मापों गिरफ्तार कर लिए गए। तीन महीने ही जेल में रहे थे कि सरदार पटेल का सरकार से समझौता हो गया और वह

जेन से युक्त हो गए। जीनेन्द्र जी का कहना है कि तब की जेम ही घससी जेम थी क्योंकि तब डंडा बेड़ी और घाड़ी-बैड़ी भी मिनी भी बबकि सन् १० और १२ में यह स्थाव फिर नहीं मिला।

जीनेन्द्र जी सोट कर दिल्ली आए तब ऐसा कि कारखाना बहुत बड़ गया है। घाये एक दूकान भी बन गई थी। घण्टी-बासी घायरमी होने लगी थी। लेकिन सांभरीवार ने कह दिया कि दूकान हमारी है। मां घर पीट कर रह गई। जीनेन्द्र जी फिर बेकार के बेकार। अब फिर यह चिन्ता कि क्या करें।

सन् १९२७ में महात्मा भगवानदीन जी दिल्ली होते हुए राजसमिन्धी जा रहे थे। राजसमिन्धी से उन्होंने कश्मीर जाने का कार्यक्रम बना रखा था। कश्मीर का नाम सुन कर जीनेन्द्र जी का मन भी उन के साथ जाने को हो आया। चल तो पड़े पर जब महात्मा जी ने कहा कि वंदन बनने का निश्चय है इस पर पहले तो वह बबराए पर बाह में प्रसन्नतापूर्वक वंदन-आवा करने लगे। बीच में जान-बूझ कर निश्चय किया गया कि वैसे पास नहीं रहने हैं और इस निश्चय के अनुसार बिना वैसे ही सोय याचा पूरी की गई। 'परब' के नायक सत्यजन की कश्मीर याचा इसी व्यक्तिगत अनुभव पर आधारित है। 'इस' के आत्मकथाक में भी इस प्रवास के दो अनुभव जीनेन्द्र जी ने लिखे थे।

### लेखन का आरम्भ

इस समय उन के हाथ आचार्य अनुराधेन शास्त्री का 'प्रस्तुत' पड़ गया। 'प्रस्तुत' के गद्य-काव्यों से वह बड़े प्रभावित हुए और उन्होंने 'देव बाग बग' नाम से एक गद्य-काव्य लिखा जिस की प्रेरणा मागपुर में बनरस बगारी को घरेलू-समाग्रह में हुई बार साज की सजा से मिली थी। वह उन की पहली रचना थी। वह 'प्रकाश' नाम से 'कर्मवीर' में छपने लगी गई। 'कर्मवीर' के लिए इस रचना को भेजते समय आचार्य अनुराधेन शास्त्री ने भीट दिया था—“श्री जीनेन्द्र जी की पहली चीज 'कर्मवीर' के लिए था रही है। आप के द्वारा इन के पारिवारिक और का परिचय मुझे हुआ था जब वारिष्क धीरे का परिचय मेरे द्वारा होने में। अभी यह नामकरण भी हुआ है। इसे भी पहचान में। यह बस्तु 'कर्मवीर' का समुग पेज छापी। बाहर लगाकर सब-बज से यह पेज निरासा छपना चाहिए।

पाठ-बस दिन बाद जीनेन्द्र जी ने एक और रचना लिखी। आचार्य अनुराधेन ने इसे 'विश्वमित्र' की सेवा पर वह कथावित्त छपी नहीं। उसी समय 'देवी माहिसे' दीर्घक से 'विश्व भारत' में एक गद्य-काव्य भेजा गया पर उस पर न

जाने कैसे प्राणायाम अनुसूचक का ही नाम छप गया। कदाचित् सम्पादक की नुस का ही यह परिणाम था। लेकिन इस छपन-छपाने से काम तो चलता नहीं था। जनेन्द्र जी ने सोचा कि कहीं मौकरी को जाए। 'विद्याल मारु' क तत्कालीन सम्पादक पं० बनारसीदास अनुसूचक ने छात्रा 'दिमाई और कुछ दिन के बाद जनेन्द्र जी कलकत्ते गए। कलकत्ता में घनने पास की जमा-पूरी गया कर वह मोट भाए। वहां काम नहीं बना।

कलकत्ते से लौट कर जनेन्द्र जी को प्रकल्पन की अनुभूति में जकाश। बार्सिलेस वर्ष की उम्र और पढ़ाई मधुरी। पढ़ाई मधुरी हो तो कोई बात नहीं पर कोई हुनर भी हाथ न था। उन्हें दुनिया उस जिससे-सी लगती जिस के सब दरवाजे बन्द हों। हार कर उन्होंने पुस्तकों की खरीद की। घर पर भी उन्होंने से समय काटते। जीवन का यह शुभ समय 'कामनसानी और मटरास्ट्री' में बीतता जाता। मानसिक तनाव बहुत था और वह आत्महत्या की बातें साबित रहते। ऐसी मन-स्थिति में उन के भीतर का कहानी-लेखक उन्हें बचाने को भावे जाता।

हुमा यह कि उन के एक पुत्रने सादी का ग्याह हुआ। मामी माई पत्नी सिधौ किहू पत्र-पत्रिकाएं पढ़ने का शौक था और जो चाहती थी कि कुछ मिले और उस का शक्ति प्रकाशन हो। जनेन्द्र जी ने भी मन-ही-मन नहीं साब रखा था। दोनों ने कहानी लिखना शुरू किया पर माभी बाकी मार न पाने लगी। जनेन्द्र जी के मन में फिर हीन भाव आया लेकिन माई और मामी का ही से कर उन्होंने ने एक कहानी लिखी जो कहानी नहीं कही का सुकरी थी। इन से मामी भी प्रसन्न हुई। जनेन्द्र जी के कथनानुसार यही उन की पहली कहानी थी।

सन् १९२८ के लगभग मंगपुरी महम्मद कस के भी बानीबरन दर्मा हिस्ती भाए। उन कदात कोई काम न था। उन दिनों रायबन्ध दर्मा 'महारपी' निकालते थे। दो पगहूँ मिलीं। एक पर जनेन्द्र जी रहे मए और दूसरी पर पं० बानीबरन दर्मा। काम का बिन्दुनां लिपि का और बैसन का उत्तर दए। मए मौकरी थी टिन्टीमन जैन की कृपा से मिली थी। ठगगाह क सम्बन्ध में कहा गया कि शान-आदना से काम बीजिर और पैसे कम तीजिर। जनेन्द्र जी ने मौकरी छोड़ दी। उसी 'महारपी' में थी बिजदगिह पदिक और मदनानाम बेसा भाए। पत्रिक की के माध्यम से पं० बानीबरन दर्मा को राजस्दान में पन्नीस एए मासिक की ईमास्टरी मिल गई और जनेन्द्र जी देशर के देशर रह मए।

पं० बानीबरन दर्मा ने तीमरी-बीदी बरस के हिदाबिदों को से कर

‘ज्योति’ नामक हस्तलिखित पत्रिका लिखाती। उन्होंने जैनग्रन्थों से भी उस के लिए कुछ लिखने को कहा। जैनग्रन्थों ने उन के पत्र के उत्तर में जो कुछ लिखा वह उन्होंने उस हस्तलिखित पत्रिका में रख लिया। वह महीने बार जब उन की गौरी सूटी और वह बिस्मयी घाए सब ‘ज्योति’ की काइसे भी भिरे गए। उस में ‘जैन’ ‘गौरी’ और ‘ज्योतिषापी’ ये तीन कहानियाँ थीं। उन में से एक कहानी ‘जैन’ ‘विद्याभारत’ में छपी और उस का चार रूप का मनीषाईर भी बना। उस मनीषाईर से एक घोर उन की माँ की प्रसन्नता हुई तो दूसरी घोर स्वयं उन्होंने भी सोचा कि उन का निकम्मापन भी किसी काम का है।

उत्तर हिन्दी प्रचारिणी सभा में पढ़ने के लिए कुछ कहानियाँ लिखी पड़ीं। उन में एक कहानी ‘वेद-श्रेय’ थी जिसे श्री रामचन्द्र शर्मा ‘महारथी’ ने तीन चार महीने तक नहीं छापा और जो श्री देवीप्रसाद वरन ‘विकल’ के पास संजो बनाई देव भी पड़ी थी। जैनग्रन्थों ने जैसे-तैसे वह कहानी वापस ली और उस के सबसे एक भाग्य कहानी देने का बारा किया। उस कहानी का नाम स्वर्गीया। उसे श्री ज्ञानचरण जैन के कहने से उन्होंने जेम्स जैन की पास भेज दिया। जो स्वयंवाक वापस ला गई। उस पर साब स्वाही से लिखा था—  
“प्लीज मास्टर वेदर दिस इज ए ट्रान्सलेशन (कृपा कर पूछिए कि क्या यह अनुवाद है ?) इस पर जैनग्रन्थों ने ‘अग्ने का भेद’ नामक एक दूसरी कहानी लिखी और उसे भी जेम्स जैन की पास भेजा, जो उन्होंने ‘हंस’ के विद्येपाक में छापी। आचार्य मन्मथसारे बाजपेयी ने उसे पढ़ा तो प्रसन्नतापक पत्र लिखा और जैनग्रन्थों को ‘शारत्’ एवं ‘परशुराम’ दोनों का सम्मिलित रूप बताया। इस प्रकार उन का जेम्स जैन की ही चिन्त परिचय हुआ जो अन्त तक बना रहा।

## विवाह

सन् १९२६ में उन्होंने जेम्स जैन ‘परब’ ज्ञानवास प्रकाशित कराया जिस पर आशामी वर्ष ५०० रूपए का हिन्दुस्तानी प्रकाशनी का पुरस्कार मिला। इस पुरस्कार से उन में आत्म-विश्वास बना और वह लिखने के प्रति उत्तम हो गए। इसी वर्ष उन का विवाह हुआ। उस की पत्नी श्रीमती यमवती देवी को उन्होंने पढ़ने नहीं देखा था। माता भी ने कहा तो जैनग्रन्थों ने कहा दिया—  
“तुम ने देव लिया तो काफी है। मुझे इस बारे में कुछ नहीं कहना।” विवाह पर उन्होंने जेम्स जैन से एक भी पत्राचार नहीं होने दिया और कोई नया कपड़ा नहीं बनने दिया। बरात में मुखपत्रनगर पाँच आशमी गए और इस में

हुत साफ़ सफ़ाई रखना सच हुआ। साढ़े सत्रह को एकम उन्हें इसलिए मार है कि उन के माया महारमा भगवानदीन जी ने हिसाब रखा था और पीछे इतना सच होने की बात बताई थी। विवाह कुछ राष्ट्रीय भावना के साथ हुआ था और प्रतिन-सादी या मन्त्रोच्चारण आदि की रीति का पालन नहीं किया गया था। विवाह से सौतेले पर बैरिस्टर जयप्रकाश जी ने उन से कहा कि यह विवाह कानून के सिद्धान्त से बच नहीं समझा जाएगा और उत्तराधिकार में निबट हो सकती है। जैनधर्म जी ने कहा कि सम्पत्ति उन के पास कभी बँटने वाली ही नहीं है। उत्तराधिकार की चिन्ता बुझा है। वह मानते हैं कि श्रीमती भगवती देवी यदि मामूली भी पढ़ी-लिखी नहीं थी तो यह उन के माया की दृष्टि से बरदान ही सिद्ध हुआ है। उन की-जसी सब परिस्थितियों में निर्वाह कर सकन वाली और हर तरह का धन और कष्ट सह सकने वाली पत्नी चायद दूसरी नहीं हो सकती थी।

## राजनीतिक सेवा

सन् १९२० में महात्मा गांधी का सत्याग्रह-आन्दोलन प्रारम्भ हुआ। उस समय मनुका के किनारे एक कैम्प लगा। उस में सब सत्याग्रही एकत्र थे। सरमा यह के लिए निश्चय किया गया था कि जैनधर्म जी पहले करण का नेतृत्व करेंगे। जैनधर्म जी ने इस बात का विरोध किया और कहा—“नेतृत्व किसी जाने-माने व्यक्ति को करना चाहिए। मुझे यह अधिकार नहीं है कि मैं यह सम्मान प्राप्त करूँ। हाँ मैं अपने स्वयंसेवक के रूप में नेता के अधीन चलन को तैयार हूँ। इस पर नेताओं और स्वयंसेवकों के बीच मत भिन्न हो गए। स्वयंसेवक जैनधर्म जी की ओर से और नेता नेताओं की ओर। इसलिए जैनधर्म जी ने नवतन्त्र स्वीकार करने के बजाय पीछे हटना स्वीकार किया और उन्होंने ने कहा कि औरत पर ‘नीरवान भारत सेवा’ नामक स्वयंसेवकों का एक दल बना दिया।

अप्रैल १९२० के प्रारम्भ में जमियाबादा स्मृति-निधन के निमित्त एक बड़ा बन्दस निकाला गया। महिलाओं के बाद उस में नीरवान भारत सेवा के स्वयंसेवकों का स्थान था। महिलाएँ बचहरी पर प्रकटित करने के लिए रह गई। मैजिस्ट्रेट वरमोरी देव के पुत्र पर जब दोली चली और लारी-बार्ज हुआ तब नीरवान भारत सेवा के लोग सामने थे। उन में बहुरे पायल हुए और बरमोरी की छात्र में मृत्यु हो गई। गोर्खा की शहर गुन कर जैनधर्म जी भगवती हुए जब हरी से वरमोरी देव के पुत्र के पाग आए और उन्होंने ने देखा कि सड़क के दोनों ओर पायल मौज पड़े हैं। तभी सात बिते की ओर से युद्धमहारों की एक नई

टोली लाठी बुमाठी हुई पूस के नीचे से निकली और हर किसी को रास्ते में अपनी लाठी का सिकार बनाते हुए चली गई। सड़क पर पड़े घायलों पर भी सरे हाथों लाठी चमकाने में उसे संकोच न था। उस समय जैनस्य भी दोनों सड़कों के बीच के बास के प्लाट पर खड़े थे। इतने में सिपाहियों का सब की ओर ध्यान गया। जैनस्य भी अपनी बगह्र जैसे तो रहे, लेकिन अनुभव किया कि उन के मन में कहीं भय भी है। बाहर हो-बार लाठियां उन पर भी पड़ीं लेकिन उस बीच जब जब को अपने धम्बर पहचान कर जैनस्य भी ने तय किया कि वह इस घाईसक सड़ाई में नेता बनने योग्य नहीं है। उस के लिए सर्वथा निर्भीक पुरुष चाहिए। जिस मौजपान भारत सेना के घनेक सचस्य बायस हुए और मृत्यु पा गए, उसी के नेता की हैसियत से उन पर सिर्फ हो बार लाठियां पड़ कर रह गईं ब्यादा धांच न भाई, यह विचार उन्हें पहचान बास देता रहा।)

अन्त में जब अनुभव हुआ कि पांचों में काम सिबिल है तब जैनस्य भी से कहा गया और वह बाब-बाब घूमने लगे। (इसी प्रवृत्ति में एक सप्ताह के भीतर उन्हें बुलाया पांच में अपने बत्ते के साथ बिरपत्तार कर लिया गया) उस समय गांव में बैदर सप्ताह या और तनिक इछाप होठा तो पुलिस बासों की खंर नहीं थी लेकिन पांच बासे स्वयं कन्नों पर बैठाकर जैनस्य भी और उन के साथियों को पुलिस बासों को खोप भाए।) पुलिस ने भी अतिशय सम्मनता का व्यवहार दिया। (जेल में मुख्यमा जला और उन को बी' बलास दिया गया) उन्होंने ने मजिस्ट्रेट से कह दिया कि वह इन बलास के मुस्तहक नहीं है न इतने सम्मन है, न पड़-लिखे है इसलिए वह इस बलास का काम नहीं लेंगे और मामूली कैदियों के साथ ही रहेंगे। पर उन्हें जबबंस्ती गोरा बीरक में भेज दिया गया और अपने दिन पंजाब की स्पेशल जेल मुजरात रवाना कर दिया गया।)

## आस्तिक जैनस्य

मुजरात जेल में फटियर पंजाब और दिल्ली के सब स्पेशल बलास राज नीतिक कंड़ी जमा थे। पुराने आन्तिकारी काब पानी से बर्हा जेल में आ गए थे और छंटियतु गांधी अन्धम अफुकार ला भी थे। उन दोनों ने पीठा-बलास धुक की। पं० जयतराम पीठा के पहरे अम्मासी थे। वहीं जैनस्य भी को पहली बार पीठा का नाम सुनने को मिला और उस से परिचय हुआ। उस से उन के चित्त में गहरी उपन-पुनस धकी और एक खोज उन्होंने ने पाया कि वह आस्तिक है। तब की प्राप्त हुई आस्तिकता उन की रचनाओं में व्यक्त होती या सकती है यागे वह जब तक उन के विरवास की रीढ़ बनी हुई है।

वहाँ तीनों प्रान्तों के बड़े से बड़े नेता लोग जमा थे और हर तरह का मुभीठा था। एक गोष्ठी वहाँ प्रारम्भ हुई जिसे 'पार्लियामेंट' कहा जाता था। एक दिन जनाब सातपदभी साहब जैनेन्द्र जी की कोठरी में भाये। कहने लगे कि तुम इस पार्लियामेंट में बोल थे। राजनीति में करने-मरने बात तो मैं सिक्किन पहले जाकर बिचार करने वाले नहीं हूँ। इस तुम्हें सुनकर मैं यह कहने भाया हूँ कि तुम्हें राजनीति में सक्रिय होना और भाये घाना चाहिए। जैनेन्द्र जी ने कहा कि मैं निश्चय कर चुके हूँ कि मैं राजनीति से एकदम बाहर रहूँगे। सातपद-भायी साहब ने बहुत कहा लेकिन मांजी जी के कुछ की अहिंसक नीति की और उसकी छोटा में अपने की देखकर उनका निर्णय कम चुका था, जो सब तक कायम है। /

जब उन्हें सन् ३२ में भी जाना पड़ा। बात यों हुई कि प्रेमचन्द जी ने तार से तारीफ के साथ उन से कहानी मँगाई थी पर बाहर प्रान्तीयता छिड़ चुका था और कहानी उन से मिली ही नहीं जाती थी। तीन बार रोज इस कष्ट में बिता कर उन्होंने एक पुर्जा दिया और यं० इन्द्र विद्यावाचस्पति की ओर तब दिल्ली-बांगस के अध्यक्ष और डिप्टेटर थे मिल दिया कि बहुत तारीफ से मेरा नाम बालगिरों में दख कर भीजिए। यह पत्रों लिखकर भेजना था कि ठानी बिल समाहित हो गया और उन्होंने मे प्रेमचन्द की तलाश कहाँ भी मिला मेरी। (इस के बीच दिन ही इन्द्र जी का पत्र से कर दिल्ली के दो सम्मान्य सज्जन उपस्थित हुए कि इन्द्र जी के बार-बार की डिप्टेटर हुआ है।) जैनेन्द्र जी को बहुत कुछ मानस हुआ। तैयारी बालगिर बनने की थी डिप्टेटर बनने की नहीं है लेकिन उपाय न था और इस हीमियत से फिर उन्हें घण्टा-घर पर जानून छोड़ने के लिए मिरफार हाता पड़ा बुकिर पहले बाबा कम दुहराया गया और इन्द्र जी 'बी' बलास दे कर उन्हें मुसमान भेज दिया गया। इस जेल के प्रवास में भी एक घटना घटी। मैत्रा के दो प्रतिस्पर्धी थे और उस बैरक के बानियों ने सभा करके निपट किया कि जैनेन्द्र जी उन में किसी एक को चुन दें। चुनाव में परिस्थिति की कुछ बाधा का गई और बाब के कुछ निरपेक्ष निजसे कि घण्टाई जैनेन्द्र जी को निवाहनी पड़ी। उसी बीच एक दिन उस के बाहर बर्बर साठी घुमाते हुए बैरक में सा घमके। बोले 'तलाने की मांगी।' भाये जैनेन्द्र जी की हाता पड़ा। घुमने पर कि तलापी में पाना क्या चाहते हैं, बताया गया कि बैरक में दवात-जलय है और नारायण बिट्टिया तिथी जाती है। जैनेन्द्र जी ने कहा—“भाइए दवात-जलय नर मेरी कोठरी में है मे जाइए।” बज घाई-घाई हुई लेकिन माठी घमाने हुए बाहरों की



सूरत उम के मन में रही और कहीं भीतर दहसत भी पैदा करती रही। यह फिर दूसरा सबूत था उम के लिए कि नेतृत्व उन्हें कभी अपने ऊपर नहीं सेना है। उस से उन्होंने ने फिर कभी उस ओर नहीं देखा।)

जेल में बितना भगभग नहीं हुआ पढ़ना प्रभवता होता रहा। सुझाव जेल में लिख दो कहानियाँ लिखी गई—‘व्यक्ति चित्त और ‘साधु की हठ’ जो उम के ‘वातायन’ नामक कहानी-संग्रह में हैं। कानपुर के धर्मिक नेता राजा राम सास्त्री को जेल में यह देख कर विस्मय हुआ कि कहानी जैसे एक-एक कर के साथ एक सपाटे में लिख दी जाती है।

जैनेन्द्र जी जब मुसतान जेल में थे तब उन्हें ‘संकेत की प्रति मिल गई। उसी समय काठी से विमोहलकर व्यास ने ‘बाबरन का भारम किताब का और पहले प्रक के पहले पृष्ठ पर व्यवसंकर ‘प्रभाव’ की कविता निकली थी। प्रेम चन्द जी के पत्र मिलते रहते थे और ‘बाबरन’ कुछ दिन बाद विमोहलकर जी के पास से प्रेमचन्द पर आ गया और पाक्षिक से साप्ताहिक हो गया। प्रेमचन्द जी जब-तब अपनी रचि की किताबें भेजते रहते थे और जैनेन्द्र जी से उन पर समालोचनाएं प्राप्त करते रहते थे।

जेल से छीटने पर ज्ञापनचरण जैन मिश्र। सन् २७ से भी पहले मिश्र पत्रों को ज्ञापनचरण उठा लाए थे और मुसतान जेल में सूचना दी थी कि वह जैनेन्द्र जी के मन के मुताबिक कहानी पूरी करके ‘तपोभूमि’ नाम से छाप रहे हैं। जैनेन्द्र जी एक तरह से उन पत्रों को भूल चुक थे। उन्होंने ने आपत्ति न की और जब तक वह जेल से आए तब तक ‘तपोभूमि’ छप चुकी थी। ज्ञापनचरण का प्रकाशन-व्यवसाय था और ‘चित्रपट’ नाम की पत्रिका भी निकलती थी। सन् २९ में जैनेन्द्र जी की तीन कहानियाँ ‘छाँटी’ नाम से उन्होंने ने ही छापी थी और साहीर कादरी के अभिवेदन में एक पूरा संस्करण बेच आता था। सुनिर्मल चौध जी और मुखपृष्ठ पर छाँटी का हीतनाम लिख था। सायब इस पुस्तक से जामिनारियों का ध्यान जैनेन्द्र जी की ओर गया और उम के परिचामस्वरूप सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन ‘ग्रन्थेय’ उन्हें प्राप्त हुए। उसी किताब की बबोसत मोका मारा कि वह ‘मग्नसरी’ और ‘महसान इनाही’ जैसे अग्रिम-वर्तों के संस्वापकों के सम्पर्क में आए। लेकिन बहुत जल्दी जाहूम हुआ कि बीच में कहीं प्रम है क्योंकि जैनेन्द्र जी एकदम संहिता के पक्ष में थे और इन व्यक्तिकारी वगुणों को संहिता एवम प्रमिष थी। यह प्रम निश्चय ही ‘छाँटी’ की कहानियों से हुआ होगा।

## ‘सुनीता’ का जन्म

६६

यहाँ फिर अप्रमत्तता से घोर जन्मों में घाघरु किया कि चित्रपट में कुछ पाराबाहिक निरुत्तरी होगा। बात चलती गई कि धर्म में एक रोख अप्रमत्तता से जैनधर्म की ओर पर कुसाया और प्रभावक दरबाजा बन्द कर दिया। मिल कर नीचे बिट सरका दी कि पहला परिच्छेद मिल दोमे तक दरबाजा खुलेगा। ऐसे ‘सुनीता’ का प्रारम्भ हुआ। जो पश्चित्तों किसी गई के चित्रपट के धर्मसे प्रक में ही छपी—इस निष्ठापन के साथ कि उपन्यास कमसे इस पत्रिका में निकलेगा। सप्ताह के सप्ताह उनका सादमी पाता और जैनधर्म की से गई किस्त निष्ठा से जाता। दो-तिहाई उपन्यास इस तरह छपा होगा। छप सीधा किताब में गया। ऐसे वह सुनीता बनी जो अब तक बिबाद का विषय मानी जाती है।

## ‘त्यागपत्र’ और ‘कल्याणी’

इस के पश्चात् हिन्दी धर्म रत्नाकर बम्बई के मासिक नाथूराम ‘प्रेमी’ की ने जैनधर्म की से कहा कि एक ही के लगभग पृष्ठों का उपन्यास तुम्हें देना है। ‘प्रेमी’ की द्वारा जैनधर्म की हिन्दी साहित्य में आए के और धर्म की उनका कृतज्ञ अनुभव करत थे। इस लिए साधक हम नहीं सकता था और ‘त्यागपत्र’ की सृष्टि हुई। ‘त्यागपत्र’ मोक्षप्रिय हुआ और ‘प्रेमी’ की के अनुरोध पर फिर ‘कल्याणी’ की रचना हुई। इस की प्रेरणा के सम्बन्ध में जैनधर्म की का कथन है—  
“दिल्ली में उड़िया भाषा की सफल कर्मिणी कुन्तल कुमारी डाक्टर की प्रवृत्ति करती थी। उन का प्रभावक देहान्त हो गया। दिल्ली के साहित्यिक क्षेत्र में वह अच्छी परिचित थी और सम्प्रर्बनीय मानी जाती थी। कल्याणी मानो जैनधर्म की की ओर से उन्हीं की स्मृति का स्तवन है।” यह सन् १०-१८ तक की बात है।<sup>(१)</sup>

इसी समय एक दुर्घटना हुई। कृतज्ञ चलती थी पर प्रभाव बन्द थी। दुर्घटना ऐसा हुआ कि कृतज्ञसे में उत्तर हुआ और जैनधर्म का ने पाया कि मंच पर सोलने के लिए उन्हें छाया पड़ रहा है। सोलना बिफन नहीं समझा गया लेकिन जमाने कमजोर जो बन्द हुई तो बारह चौदह साल तक फिर लगभग उठी ही नहीं। इस में एक कारण और भी हुआ। उनकी बिबाद भार पड़े पर जाकर घटबटती और टकरा कर रू जाती थी। ऐसे पर हम बीच कई सैकड़ निगूण के और बहानियों भी बनी थी। अब का मूम छाया यह था कि चन्द्रार्जुन की पद्धति शक्ति है और धर्म के द्वारा छाया का साम उत्तम नहीं होता बिबना सोपन

होता है। लेकिन उनके मिलने से कुछ कमाई भी होने लगी थी। इस सेवकी के साथ इस कमाई का धोम उन के मन को ठीक नहीं लगा। ऐसे की बकलत तो रहती ही थी लेकिन वह पैसा बनायास क्यों न जाए—पुनः देकर क्यों कमाया जाए ? कुछ इसी तरह के बकल में कमाई करने वाली कलम की सभों में विश्राम दे दिया और वह जगह-जगह बोलने लगे। बोलने के विषय विविध हो जाते थे—कहीं साहित्य कहीं जैन तत्व और भत, कहीं ग्रहणा और वेद-नीति इत्यादि। उन के कहने के अनुसार वास्तव में उन की प्रति इन में से किसी में भी नहीं थी पर जो धन भी थी। इसी कास की चर्चाओं और बकलवाचों को ले कर कुछ मध-संघट्ट निकल गए हैं—अनंतर के कम में भी कुछ बना और प्रकाशित हुआ है।

### पुनरागमन

यह स्वयं प्रकटमात्र हुआ था। कई रचनाएं थी जो शुरू हुईं, पर नहीं छूट गईं। उन्हें पाने नहीं सकाया जा सका। 'एक राजकुमार का वैवाहिक' जहाँ अब तक पार है जो दो-तीन संकों में 'हूँ' में निकला था। इसी तरह दो-एक छंदी रचनाएं और भी हैं जो जाने पूरी हो पाएंगी भी कि नहीं। जन्ही में 'सुखदा' के कुछ पृष्ठ मिले पड़े थे। उनके व्येष्ट पुत्र दिलीप कुमार ने उन पन्नों को लिया टाइप किया और 'वर्मयुग' से नमस-छापने की विधि बैठ गई थी। अब तक जैनग्रन्थ की को इस का पता न था न 'वर्मयुग' के सम्पादक सत्यनाम भी को बिश्वास हुआ कि जैनग्रन्थ की उपग्यास पूरा करेंगे। हिस्सी धा कर उन्होंने कहा—  
 ✓ 'आप के पुत्र से बात पक्की हो गई है। हम ने पैसा भी जमा दिया है और बिश्वास भी कर डाला है। उपग्यास आप को पूरा करना ही है। ऐसे क्यों बाद 'सुखदा' उपग्यास का आरम्भ हुआ। उस का छपना शुरू होना था कि बिश्वास गोपी का उन पर तकाबा पड़ा। उन्होंने कहा कि हिस्सी छोड़ कर बम्बई के पत्र को आप का उपग्यास पाने का क्या अधिकार था। जगत 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' में तत्काल बाद 'बिर्से' शुरू करना पड़ा। इसी समय रेडियो के भी नारायण मेहन उन से बिगड़े। जन्ही ने 'व्यापक रेडियो से संदेशों में किया था। बोले—तुम उपग्यास मिलने लगे हो जी यह ज्ञान कि रेडियो से अनुवाद जाए। एक उपग्यास मूल हिन्दी में रेडियो पर सुनई देना है।' ऐसे 'भ्यतीत' की रचना हुई।

उपग्यास का काम 'भ्यतीत' के बाद फिर दूट गया। न किसी और से तकाबा हुआ न सिद्धता हा पाया। दो-एक वर्ष बाद चन्द्रिका द्वारा लरे पाएही हो गए।

दूर से साइकिल पर आठे और इतबार के इतबार कुछ सिक से जाते। इस में व्यतिक्रम भी काफी पड़ा। वो महीने जैनेन्द्र को बिनासुत भी भूम भाए। आखिर 'जयचर्यन' के इस सिलसिले को किसीपन्नामर न संभाला और बार सी क मास पास को वो पुस्तक बाही गई वो तो 'जयचर्यन' नाम से पूरी हुई।

## सूक्ष्म के प्रति लगन

जैनेन्द्र जी अपने सिलसिले के बारे में बोलना चाहिए, बस सावधान नहीं रहे हैं। उस छोटे समय उन में लगन नहीं। लगन यदि किसी और है तो वह कुछ सूक्ष्म बस्तु होती, जो उन्हें बरकत दार्शनिकता की ओर खींच ले जाती है। बर्तन औरत विषय है और साहित्य का शारंगमदार उस पर है। इन दोनों का मेल कैसे होता है समझ में आना कठिन है। लेकिन ठकाऊ पर जैनेन्द्र जी कदाही या उपग्यास सिलसिले से सब भी मुँह नहीं मोड़ते हैं। यद्यपि उनकी दृष्टि की रचनाएँ जले ही वे कहानियाँ या उपमास ही क्यों न हों। तात्त्विकता से कुछ घाटी और बोधित पड़ जाती है।

## X ६ कहानी-संग्रह

उन के अब तक ६ कहानी-संग्रह निकले हैं। अंतिम तीनों भाग में अधिकांश विचारानुसार कहानियाँ हैं। प्रेम और विवाह को ले कर जैनेन्द्र जी क्या सुझाव देना चाहते हैं पता नहीं चलता, लेकिन उन की कहानियाँ उस उसकाय को इस तरह प्रसरण प्रस्तुत करती हैं कि प्रश्न खड़ा हो कर उभर आता है। वह तात्त्विक ही नहीं रहता संवेदना का भाव जन आता है। आदर्श भाव के प्रकाशकीय बस्तुधर्म से पता चलता है कि उस की कहानियों का आरम्भ अधिकतर उस एक वाक्य से हुआ है जो लिखते वाले को अपनी धार से बोलना पड़ा है। जैनेन्द्र जी लिखते नहीं हैं, लिखाते हैं और आरम्भ को धुलकों 'परस' और 'बातायन' के अतिरिक्त अब कुछ नियाया ही पड़ा है। अगर मानो उनके पास लिखने की साधना नहीं रहे गई है। माँ और अनुपेय पर लिखत हैं तो निषिद्ध से ही प्रेरित हैं कि कोनो क्या लिखा जाए। निषिद्ध अन्त में वाक्य बोलता है और कहानी आरम्भ हो जाती है।

(हाम ही देखिये कर उन्होंने 'मुक्तिबोध' नामक उपग्यास देना स्वीकार दिया है। अपने के अपने वह नियाया जाता है और अधिकतर तो बिना तभी दिन बीतता होती है जिस दिन आदरपात्र हुनी होती है। देखना है कि यह उपग्यास पाठक के सामने क्या-क्या लाता है।

‘समय और हम’ इतर हाम की रचना है। कृति से अधिक उसे एक बटमा ही कहना चाहिए। जैनेन्द्र जी का प्रकृत और परिपूर्ण रूप उस में छाया हुआ है। दिव्य विश्वास का उस में प्रकाश नहीं है न व्यर्थ-व्यर्थता का। प्रश्न जो सामने आते गए हैं उन के उत्तर में उन्हें तत्काल निर्धारण भाव से अपने को जोस देना पड़ा है। इस से यह कृति उन के व्यक्तित्व के रूप के रूप में सब से अधिक महत्वपूर्ण हो जाती है।

### सार्वजनिक प्रवृत्तियाँ

जैनेन्द्र जी अपने में ही केन्द्रित या बिदे नहीं हैं, यद्यपि बाहर की उन्हें आकर्षित है यह कहना कठिन है। सार्वजनिक प्रवृत्तियों में उन्हें प्रवृत्ति नहीं है, बल्कि अपनी व्यवस्था पर उन की उपयोगिता भी यह मानते हैं। स्वराज्य के बाद ही भारतवर्ष अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में प्रविष्ट हुआ और युनो के सांस्कृतिक पक्ष यूनेस्को का संज्व सचस्य बना। (जैनेन्द्र जी उस यूनेस्को के अध्यक्ष कमीशनर जनरल कार्जिलस के सचस्य ही नहीं नियुक्त हुए, बल्कि उस की कार्य-समिति में भी चुने गए। उस की ओर से अनुवाद-उपसमिति और साधी-विचार-प्रस्तुत उपसमिति के सचस्य रहे। भारत में होने वाले पहले एशियाई लेखक-सम्मेलन के वह संयोजक थे और उस की अन्तर्राष्ट्रीय समिति के एक अध्यक्ष थे। उपासक समिति की अध्यक्षता भी उन्होंने की निवाहनी पक्षी की) उस के दूसरे सांस्कृतिक अधिवेशन के लिए भी भारतीय समिति के वह संयोजक थे लेकिन सांस्कृतिक जाने से उन्होंने इसलिए इन्कार कर दिया कि वहाँ भारतीयता के पक्ष का प्रतिनिधित्व न हो सकेगा। इस के अतिरिक्त अन्य अन्तर्राष्ट्रीय अधिवेशनों में भी उन्होंने भाग लिया। कैमिड में होने वाले टास्टराय-संस्थापनी-परिषद् में भी राजाराम के साथ वह भारत के एकमात्र साहित्यिक प्रतिनिधि थे। भारत सरकार की ओर से जैनेन्द्र जी कुछ साहित्य-महोत्सव में भारत के अकेले प्रतिनिधि रहे गए जबकि भी ताराचकर बंधोपाध्याय की अध्यक्षता के कारण रंगून से भीट आना पड़ा था। तथा क राजकीय स्तर पर होने वाले साहित्य-समारी में भी भारत के तीन प्रतिनिधियों में उन को भेजा गया था। भारतीय साहित्य प्रकाशनी की प्रस्थापना पर उन्हें उस की जनरल कार्जिलस और कार्य-समिति का सचस्य मनोनीत किया गया था। लेकिन इस सब प्रवृत्तियों में उन का चित्त रम नहीं सका। कारण उन में राजनीति का समावेश हो जाता है और युनो की सीता का प्रकाश नहीं रह जाता। दिल्ली के सार्वजनिक जीवन में भी उन का स्थायी स्थान है, यद्यपि किसी राजनीतिक दल से उन का सम्बन्ध नहीं है।

## अन्तरराष्ट्रीय लोकप्रियता

जैनेन्द्र जी का साहित्य प्रारम्भ से ही हिन्दी-वीन से बाहर भी अपना प्रभाव फैलाने लगा था। 'परब' निकलने के दो वर्ष के अनन्तर उस का अनुबाद दो अन्य प्रारंभिक भाषाओं—गुजराती और तेलगू—में हो गया था। उस के बाद वहाँ-वहाँ से अनुबाद की अनुमति के लिए पत्र आते रहे और जैनेन्द्र जी उस सम्बन्ध में सदाशील रहे। वह अपनी रचनाओं का कुल्कर प्रकाशन नहीं चाहते थे और इसलिए अनुमति दिले से इन्कार करते रहे। अंग्रेजी में केवल एक ठक 'त्यागपत्र' का अनुबाद हुआ है। यद्यपि उस अनुबाद का प्रकाशन हुआ-न-हुआ जैसा है। तथापि अंग्रेजी के द्वारा वह पुस्तक कई अन्य विदेशी भाषाओं में बहुधा चुकी है, जिन में जर्मन, स्कॉटलैण्डियन (यूगोस्लाविया की भाषा), फिनिश, डेन, डच, स्वीडिश, प्रसुत हैं। तेलगू में इन चार-पाँच वर्षों में लगभग बारह अन्य निबन्ध चुके हैं और वे वहाँ अत्यंत लोकप्रिय हुए हैं। गुजराती और मराठी में भी उन की अनुमति के बिना कुछ कृतियाँ निकली हैं। 'मनपालम' 'तमिल और उडिया में वहाँ पहले 'त्यागपत्र' लिखा था) 'मनपालम' और 'तमिल' में दूसरी कुछ पुस्तकों का भी अनुबाद हुआ है। उस और चीन में उन की पुस्तकों के अनुबाद की योजना बन रही है।

## पारिवारिक जीवन

वहाँ तक पारिवारिक जीवन का सम्बन्ध है जैनेन्द्र जी अपने को सफल नहीं मानते। सब एक मोटे से किराए के मकान में रहते हैं। वहाँ सब तरह की अनुविधा है और आराम किसी अनु का नहीं है। किन्तु ऐसा नहीं मानूँ होता कि जैनेन्द्र जी को इस का कष्ट है या इस का विचार तक है। उन की भाव अनिश्चित रही है और यद्यपि 'पूर्वोदय प्रकाशन' चल रहा है तब भी भावों वह उन का नहीं है, पारिवारिकों का है। हाल में 'पूर्वोदय प्रकाशन' को लिमिटेड कर दिया गया है और मुना है कि उस में जैनेन्द्र जी ने अपना योगदान नहीं रखा। बुद्ध बुद्ध और इनकी तीस कम्पार्स हैं और तीनों का विवाह हो चुका है। विवाह का अर्थ अपने समाज के काफी अटिग हुआ करता है। मामूय नहीं हमें जैनेन्द्र जी की बुद्धिमत्ता जाना जाए का भाव्य या संयोग कि कम्पार्सों के विवाह वर्णित संयोगजनक हुए हैं। दो पुत्र दिगीप कुमार और प्रदीप कुमार हैं, जो पूर्वोदय प्रकाशन का काम देखते आने हैं। दोनों कुशलित और मुसीत हैं। यह भी जैनेन्द्र जी का बड़ा सीमाव्य है।

जीनेत्र जी स्पष्टवादी सरल और ईमानदार व्यक्ति है। बात करते समय उन के मस्तक की रेखाएं और सुदूर विचार-भोक में कोई धाँधे इस बात का प्रमाण देती हैं कि इस व्यक्ति के पास प्रत्येक समस्या का मौलिक विस्तार और उसे विश्वसनीय ढंग से प्रकट करने की शक्ति है। उन के घर और कार्यालय में कहीं भी पुस्तकों या पत्रों-पत्रिकाओं की सजावट नहीं है जो यह बताएं कि यह व्यक्ति अध्ययनशील है और न चीजें ही मग-मग बिखरी मिलती हैं जो यह बताएं कि यह लापरवाह और फुसफुसा कमाकार है। जैसे वह एक ठलठ से अपने आईन-बक्स को सजा सकते हैं और अन्य कपड़ों की अपने शरीर के लिए आवश्यकता समझते हैं। जैसे ही वे अपने कुछ विचारों से हीम-मुनिया की समस्याओं का हल प्रस्तुत कर देते हैं। वह धारदाता हैं, पर उन के धारदात बक नहीं हैं। उन में सवेदनशीलता पर्याप्त मात्रा में है (छोटी के धमिले प्रयोगों की दृष्टि से वह हिन्दी में प्रथम कोटि के लेखीकार माने जाते हैं) पर उन्हें टेक्नीकल सम्बन्ध से प्यार है। उन की साबना कबीर की 'बहुत' साबना है। समझास वह कोई काम नहीं करते, स्वाभाविक रूप से जो हो जाए सो ठीक है। वह कम होवते हैं पर जब होवते हैं तब पूर्ण निरुद्धता और यथार्थ के साथ। उन के कपन का होना कितना ही ठीका हो पर वह व्यंग्यमय होता है। वह किसी कार्य के महत्त्व को मूट करना या कम करना पसन्द नहीं करते, बल्कि उस की ओर धार्मिकता के ध्यान करके ही समुप हो जाते हैं। छाँटा उन के स्वभाव में रसी-भर नहीं है। धाडम्बरशील सरलता ही उन के व्यक्तित्व और इतिव की शक्ति का मूल कारण है। वह घटरंज और कुस्ती में बचपन में बड़े माहिर थे और ठीक ठीक ऐसे थे कि एक बार महिलाभक्त की एक छात्रा को अपनी जान लठरे में डाल कर डूबने से बचा साए थे। अपने साहस्य में वह समय को जैसे ही निराधार्य करके देस लें पर व्यक्तिगत जीवन में यथार्थशील और चिन्तक ही बने रहते हैं। इस प्रकार वे रहस्यमय व्यक्ति हैं जिन की याह पाना कठिन कार्य है।

## वचपन की मालकियां

—महार्मा भगवान्‌बीन

जनेन्द्रकुमार के बालकपन पर कुछ लिखना विस्तृत बखुर रह जाएगा। पर उन के मां-बाप को विस्तृत प्रकाश में न लाया जाय। मेरा तो यह स्वप्ति है कि उन को बिठना प्रकाश में लाया जाएगा उतना ही जनेन्द्रकुमार को समझने में आसानी होगी।

जनेन्द्रकुमार की माता का जन्म साठे-बीठे घराने में हुआ था और घर उन दिनों लड़कियों की तालीम या ऊँची तालीम पुरी गढ़ से न देसी जाती होती तो वह उस योग्य ज़रूर थी कि बड़ी आसानी से ऊँची से ऊँची डिग्री पा सकती थी क्योंकि घर में सापनों की कमी न थी। यह ठीक है कि उन दिनों लड़कियों को विद्या नहीं दी जाती थी और घर में रखा जाता था। पर उन्हें भूत या भस्मान कभी नहीं रखा जाता था। घर के काम से वे श्रम बाधित होती थीं। और घर घर सासन-कसा पुरी बीज नहीं है तो यह उन्हें काफी से ज्यादा सिखा दी जाती थी। बाह्य रूप की लड़की भी बेबा हो कर घर से मोका दिया जाए तो बड़ी दुश्मन संभाल सकती थी जमींदारी संभाल सकती थी और अगर मरीब घराने में पैदा हुई हो तो अपने छाने-महल के इस्तबाम कर सकती थी। यही बजह थी कि जनेन्द्रकुमार की मां को जब जैसा सबसर मिला उन्होंने उस सबसर पर अपने पाप को उस के काबिल साबित कर दिया था।

जनेन्द्रकुमार के पिता अपने हाथ-पांव पर मरोसा करने वाले घराने में पैदा हुए थे। उस घराने के मिहान से जितनी तालीम मिल सकती थी उतनी तालीम उन्होंने भरकर पाई। पटवारी का इम्तहान पास थे। पर हाथ-पांव पर मरोसा करने वाले होने की वजह से पटवारी का काम उन्होंने कभी किया नहीं। हाँ कुछ दिनों स्टाम्प-फरोशी करके भी। पर वह मौकरी नहीं थी। उस से घर का मामूली काम चलता था। पर ज्यादा काम तो उसी से चलता था जो वह अपने हाथ-पांव की देनव से कमाते थे। वह अपनी कला में हिमाज में सब से



सम्भव है। कहानी कहते थे तो सीन सजा कर बैठे थे। उन की कहानी सुनने में ऐसी अच्छी मयली थी जैसी मूखी घबमेरी थी। दोनों की कहानियाँ हम ने सुनी हैं। जैनग्रन्थकार के पिता को अगर संस्कार मिलता तो वह अच्छे साहित्यकार सिद्ध हो सकते थे और अच्छे ईंग्लिशियर भी।

यह थे जैनग्रन्थकार के पिता और उन की इस दिन से जो भी आज तक हम ने पाया वह इतना नहीं है कि हमें कुछ प्रचरक हो।

(जैनग्रन्थकार का जन्म सन् १६०३ की संवत् बीच की हुआ) घनी नाम रखने का दिन भी न आया था कि बास-जैनग्रन्थ के माता निकस आई। इतना ही अच्छा हुआ कि वह बहुत बोर की न थी। पर वह वृद्ध हमारी छाँटों के सामने है जब बास-जैनग्रन्थ घनी कोहनी काट पर टैक कर, बड़ी कोपिच से हाथ उठा कर और सिर्फ कलाई पर हाथ मोड़ कर अपने चेहरे पर की मक्खी उड़ाता था। हो सकता है उस काम में उस के लिए बहुत बड़ी कोपिच रही हो पर हमारे लिए तो वह तमाशा ही था। उन दिनों हम १६ वर्ष के थे पर किसी बच्चे से सोहर<sup>१</sup> जाने से न रुक सकते थे। इसलिए हम और जैनग्रन्थकार की माँ दोनों ही बंदी बास-जैनग्रन्थ का यह खेल देखा करते थे। हम चाहते तो मक्खी उड़ा सकते थे, और कभी-कभी उड़ा भी देते थे। पर मूढ़ पर पड़ी मक्खी को उड़ाते देखने में ही मजा आता था। बास-जैनग्रन्थ की उस समय की हरकतों को देख कर हम न जाने अपने मन में क्या-क्या सोचा करते थे। और, छठे दिन नाम रखने का वक्त आया और पंडित ने यह नविष्यवाणी की कि बास-जैनग्रन्थ अपने बाप के लिए बहुत भारी साहित्य होगा। उस का यह कहना था कि बास-जैनग्रन्थ अपने बाप की निमाहों से उत्तर गए और सन् १६०७ में जब वह बीमार पड़े और बास जैनग्रन्थ को उन की गोद में दिया गया तब वह उस को बोझी बैर ही से पाए थे कि उन की कुछ तकलीफ़ कुछ हुई और उन्होंने ने तुरन्त ही बास-जैनग्रन्थ को वह कह कर कि यह मुझे जा कर ही रहेगा उस की माँ के सुपुर्न कर दिया। और उसके कुछ महीनों के बाद वह स्वयं ही चल बसे।

(जैनग्रन्थकार इस तरह बाप के गुण ही विरासत में पा सके। और कुछ तो क्या उन का प्यार भी उन्हें न मिला। पर जिस के माध्य में प्यार बरा है, वह उस को क्यों न पाए? बाप का प्यार तो न मिला पर मामा के वह अपने प्यारे बन गए कि १६ वर्ष की उम्र तक वह यही न समझ पाए कि मामा उनके मामा

सन् १९०७ में ही जैनेन्द्रकुमार अपनी माँ समेत अपने मामा के घर और वहाँ इतने एकमेक हो गए कि रिश्तेदारों को छोड़ कर कोई कभी यह जान ही न पाया कि उन के बाप जीवित नहीं हैं।

वहनों के प्यारे

जैनेन्द्रकुमार की दो बहनें हैं, दोनों ही बड़ी हैं। उन में से एक तो इतनी बड़ी है कि वह जैनेन्द्रकुमार को इतना प्यार करती है जितना प्यार दासबहन को माँ से भी न मिला होता। जब जैनेन्द्रकुमार छोटे थे तब उन की बड़ी बहन उन के लिए अपने तिलीने और अपनी साते-पीने की चीजें ऐसे ही संवहर रखती थी, जैसे माँ बेटे के लिए। इन बहन की साथी बड़ी होते हुए भी इस लिए न हो पाई थी कि वह इन्सेवा अपनी मामी के पास रखी। और उस की मामी बहुत छोटी ससुर की साथी के खिलाफ थीं। हाँ, छोटी बहन की साथी उन्हीं दिनों हुई थी, जब जैनेन्द्रकुमार सोहर में थे।

जैनेन्द्रकुमार पर बाहरी घर जितना माँ और मामा का है उतना ही घर उन की बड़ी बहन का भी है। उन की बड़ी बहन धाम जीवित नहीं है परन्तु यह कहा जा सकता है कि जैनेन्द्रकुमार ने उन से बहुत कुछ लिया।

भोला बालक

हमारा यह ध्यान है कि जो भादमी बचपन में जितना भोला होता है उतना ही बड़ेपन में उसे होखिएर होना चाहिए। सबल में मोसेपन के माने हैं सब और मूठ में भेद न करना, सभी को सब समझना और हर चीज को लेने के लिए तैयार रहना। ऐसे भोले बालकों के साथ कोई भादमी बोधवाजी कर के उन को बेहद बुरा बना सकता है। और अगर वही बालक किसी भले भादमी के पास पड़ जाए तो बहुत भला बन सकता है। जब जैनेन्द्रकुमार के बचपन के मोसेपन का कुछ हाल सुनिए।

एक बार बाल-जैनेन्द्र को भोर का पैयाज सया। माँ और मामी दोनों ही परेसु काम में इतनी लगी हुई थीं कि एक-दो बार तो उन्हीं ने इस बात पर ध्यान ही नहीं दिया कि वह क्या वह रहे हैं भोर जब ध्यान दिया तो ब्यंग्य और हसते से बरा हुआ। बाल-जैनेन्द्र ने पूछा—

“मम्मा मुत्ती कहाँ बरूँ ?”

“कर मे बसुं मैं।”

बाल-जैनेन्द्र को ब्यंग्य और हसते से क्या मेना ! वह सीधे बून्दों पर पड़ने

श्रीर बड़े प्राराम के साथ पेशाब कर आए। मामी ने देखा तो हँस पड़ी श्रीर उन्हें पकड़ कर अपनी जीजी मामी उन की माँ के पास ले गई। वह भी यह सब सुन कर हँस दी। बच्चे को गले लगाया श्रीर कुछ समझ दिया। मामला यही तक न रहा। जब उन के मामा घर आए तब उन की माँ ने शिकायत की प्रसंग में उन से यह कहा कि देखो इस ने आज बूढ़े में पेशाब कर दिया। उन्होंने व्याधा पुछ-टाछ तो की नहीं उन के एक पपत पड़ दिया। जैनग्रन्थ बोड़े-से रोए, उस के बार फिर बूढ़े में पेशाब करने की बात उन्हें कभी न लंबी श्रीर वह फिर कभी माँ या मामी के बोले में न आए।

मामा को जैनग्रन्थ बहुत प्यारे थे। मामा ने प्यार में इनका नाम बन्दर रख छोड़ा था श्रीर बन्दर नाम रखने की वजह यह थी कि बन्दर के नाम से पुकारे जाने पर यह भी ठं ठं की आवाज निकालते थे। वह बिल्कुल बन्दर से मिलती जुलती होती थी। मामा की बन्दर को आवाज पर वह इतने लायू थे कि सोते हुए भी जाग पड़ते थे। इस की वजह यह भी थी कि जब भी इन्हें आवाज लगती थी तो माँ तो कुछ जाने-बेजाने की चीज मिलती थी श्रीर ऐसा न हुआ तो गोरी में कुछ दूर टहलने का मौका तो मिलता ही था। मामा भी इन को प्रबल डंग के मिते थे, जो उस को बो बजे भी इन्हें बया कर बोरी में टहलाने से बाँते थे। इस सब प्यार का एक नतीजा और हुआ। एक मरतबा इन की माँ की रवाई पर कोयले की एक चिम्लाई गिर पड़ी थी श्रीर उस में इतना सुरास हो गया था जिस में बाल-जैनग्रन्थ की चंहुली जा चकली थी। जब जब इन का यह हास था कि जैसे ही बन्दर की आवाज सुनी श्रीर इन्होंने अपनी चंहुली रवाई के उस सुरास में इसलिए डाली कि उसे बड़ा करके मामा को दें। पर उस से तो उस्ता सुरास बन्द हो जाता था श्रीर फिर वह जोर लगाते थे। इस तरह सुरास यहाँ तक बड़ा कर लिया गया कि वह बन्दर की आवाज सुनकर फौरन ही जाग जाते थे श्रीर कोसिध करके बड़ी पैरी से अपना सिर उस में होकर निद्रास लेते थे श्रीर तब ठं ठं कहते थे। क्योंकि यह मन-बहुलाव का थैल बन गया था, इसलिए रवाई के उस सुरास की मरम्मत नहीं की जाती थी।

कुछ दिनों बाद जैनग्रन्थ कुमार अपनी सुझ-बुझ से काम भिने लगे। मामा के साथ रहने के यह बड़े धीकीन थे इसलिए जब मामा सोने बैठते थे तब यह उन के पूनों पर जा बैठते थे—इस बुरग्येही से कि मामा जब बाहर आएँ तब पूरे पहने ही श्रीर बस फिर हम उन के साथ हो लेंगे। पर जब मामा की यह बात बसा तो उन्हें एक दिन इन्हें घोड़ा देने की लुभी श्रीर वह पूरा पहने बगैर दूसरे राले से चल दिए। जब काफी से ज्यादा दूर हो गई तब बाल-जैनग्रन्थ

तमाश करते हुए अम्बर आए और तब अपनी माँ से पूछने कि मामा कहाँ हैं ? तब यह जवाब सुन कर कि मामा तो बड़ी देर हुई चले गए, यह माँ और मामी पर पित पड़े कि उन्हें यह सब क्यों नहीं बताया गया। और उन्होंने ने तो माझी माँय कर समझ-बुझ कर इन से पीछे छुड़ाया पर मामा से जो यह सते तो तनी मने जब उन्होंने ने यह कह दिया कि अब यह बीसा नहीं करते। और, उन्होंने ने अपना बचन निभाया।

बाल-जैनेन्द्र ने कहीं किसी से सुन लिया या पाया कि किसी ने उन से यह कह दिया कि अपना बीसे से अब जाता है उस का पैर लड़ा हो जाता है और उस में दबल जाते हैं। तब अब क्या था उन्होंने ने बड़ी बहन की मुस्कान खोल उस में से एक अपना निकाला और बाहर किसी पैर के नीचे यह उसे बीसा पाए। उस कुछ दिनों पानी बीसे रहे। होनहार की बात कि कुछ ही दिनों बाद उन के मामा वहाँ से चल दिए, और उस बहन की उन्होंने ने हमेशा के लिए छोड़ दिया। एक मरतबा इस अपना बीसे की घटना के पाँच-छ महीने बाद, इन के मामा जब रेल से कहीं जा रहे थे तब यह उन के साथ थे। अब वह स्टेशन आया वहाँ उन्होंने ने अपना बोया था तब अपने मामा से बोले—“मैं यहाँ उतरूँगा।”

मामा ने पूछा—“किसलिए ?”

बोले—“मैं ने वहाँ अपना बीसा है, अब वह तब आया होगा।”

मामा यह सुन कर हँस दिए। पर यह उन की हँसी पर उन्हें इन तरह देखा रहे थे माँगी यह रहे थे कि हमारे मामा इसका बी नहीं समझते।

एक दिन का जिक्र है किसी बरह से घर में एक बूब भी दूध न था। बाल-जैनेन्द्र ने माँ से दूध माँगा। उन्होंने ने कह दिया—“बेटा दूध तो नहीं है मिठाई में लो मटरी में लो, फल में लो।” बाल-जैनेन्द्र किसी घर पानी नहीं हुए, यह दूध के लिए ही हठ करते रहे। और जब माँ ने फिर यही कहा कि बेटा दूध घर में नहीं है कहाँ से लाऊँ तब आप बोले कि दूध ट्यूबर में बँधने के लिए है और मेरे पीने के लिए नहीं। घर का घर यह सुन कर हँस पड़ा क्योंकि बाल-जैनेन्द्र ट्यूबर में बँधे हुए फिनायल की ही दूध समझे हुए थे। उन्हें जितना ही यह समझने की कोशिश की गई कि वह दूध नहीं है, सतना ही इन के ह्रसे का पाप बढ़ता गया। घाघिर में बैठ कर यह बाहर बरामदे में जा बैठे और फिर वहाँ से दूध आने पर ही माने।

पर मैं इन के छोटा बच्चा कोई न था। इसलिए इन की सब ही वा प्यार मिलता था। यह प्यार से अपनाए हुए थे, इसलिए प्यार उठाना चाहते थे। सब

यह उन्हें तो किस पर ? पक्षीय में भी इन से छोटा कोई बच्चा न था पर इन्हें तो कोई चाहिए ही था । एक दिन एक पिस्ता चुकड़ लाए । बस फिर क्या था उस पर इतना प्यार उन्हें कि वह कि-कि कर के इस से भपना पीछा सुकाने की कोशिश करने लगा पर यह कम झोड़ने लगे । कभी उसकी कुछ खिलाना कभी खास से पानी पिथाना कभी उसे छठा कर सुसाना कभी मोड़ी मैना और कभी उसके पंखों से तंग था कर उसे झोड़ देने पर गिर जाने पर फिर उसे प्यार से छटावा और चपचपाना चारपाई पर सुलाना । बच्चे बड़ बच्चे में ही वह पिस्ता इनके प्यार से उब नया और इनसे पीछा सुका कर भाग गया । यह बस के पीछे बहुत भागे पर वह हाथ न धावा । घर के धीरे लीपों की जगह भी उस पिस्ते से प्यार होता तो हो सझा था कि वह फिर पकड़ लिया जाता है पर बंसा न हुआ इसलिए इन का यह लौक एक दिन और वह भी एक पच्चे से ज्यादा न बना । )

कुछ बहुत सोचने पर भी यह नहीं बता सकते कि बाल-जैनग्रन्थों की तरह भूख का नाम क्यों नहीं था । भूख तो बच्चों के साथ-साथ जगम जाती है । इन के साथ उस ने जगम लिया था नहीं यह पता नहीं । कोई यह न समझे कि इन्हें भूख ही नहीं लगती थी और यह जाने के लिए कोई चीज ही नहीं मांगते थे मा यह कि बहुत छूटपन में भूख से कमी रोए ही नहीं । नहीं, नहीं, यह छूटपन में भूख से ऐसे ही रोते थे बस कि और बच्चे । पर जब यह छ बारस के थे तब भूख से जब यह ११ बजे बहुत भूखे लीटते थे तब जाना नहीं मांगते थे । मां से माते ही बस यह कहते थे कि मां धीरे पेट में दर्द होता है । मां इन्हें पूरा यह जानती थी कि यह दर्द नहीं है, भूख की पुकार है और वह इन के दर्द का यही हल्ला करती थी कि इन को खाना खिला देती थी और इन का दर्द ठीक हो जाता था । भूख से जो तकलीफ इन के पेट में होती थी उस तकलीफ का नामा यह भूख से जोड़ना पसन्द नहीं करते थे । उस का ज्यों का त्यों हाल अपनी मां को बता देते थे । दूसरे घरों में भूख का नाम इन्होंने दर्द रख छोड़ा था और दर्द का दूसरा नाम देना है । और धार्मिकों की बोली में भूख प्रतिभूत देना के सिवाय और ही क्या ? यों भगवद्गुरु ने बाल-जैनग्रन्थ का बाल धार्मिक भी कह सकते हैं ।

पराने के रिवाज के मुताबिक इन का विचारमय संस्कार, 'मा' 'ई' से न हो कर 'मलिक' 'जे' से हुआ और हाजिर की बात कि सात बरस की उम्र में ही वह एक ऐसे शुद्धभूत में दाखिल हो गए जहाँ ऊँच उँच नापटी घरों में पावन सपने जाते थे । इन का जीवन-काफ़ ऐसा ही दुस्त है जैसा कि प्यारसी-बा का । इन के नामा के पराने का भी जीवन-काफ़ दुस्त था, ज्यों कि उस पर

में धीरों को छोड़ कर सभी आरती पड़े थे। और जब तीस-पैंतीस बरस से बिस्ती में रहने की बजह से उन बीन-आफ को कोई मुकाम नहीं पड़ता है और यह सब साहित्य में इसी बजह से काफी रस से भरे हैं।

कहीं ऊपर यह कहा गया है कि यह १५ वर्ष तक अपने मामा को अपना पिता ही समझते रहे। इस की एक बजह तो यह थी कि जब यह बार बरस के थे तब इन के घर में इनके ममेरे माई का जन्म हुआ। वह जब बोलने के बादिल हुआ तब इन की बहनेकी अपने बाप को मामा कह कर पुकारने लगा। इस बारे में घर में से किसी के ध्यान नहीं दिया और कोई रोक-थाम भी न की गई। जब इन के लिए कोई थोका ही न रह गया कि यह मामा और बाप में कोई भेद कर सकें। कभी-कभी अपने ममेरे माई को अपनी मां का रूप पीठे देत कर तो इन्हें यह एक ही न रह गया कि इन का ममेरा माई इन का सया माई नहीं है। दूसरी बजह यह हुई कि साठ बरस की उम्र में बास-जीनेन्द्र जब गुरुकुल में दाखिल हुए तब बार बरस का ममेरा माई भी इन के साथ था। यह दूसरी बात है कि दोनों एक बत्तास में नहीं थे। बस एक दिन १५ बरस की उम्र में जब जीनेन्द्र ने गुरुकुल का प्रिन्सिपल देखा और उस में अपने बाप के नाम की अपहु प्यारे हाल मिला पाया और संरक्षक की जगह अपने मामा का नाम, तब पता लगा कि मामा मामा के बाप नहीं।

कहीं ऊपर हम यह भी कह आए हैं कि बास-जीनेन्द्र को अपना प्यार उठेलेने के लिए घर में कोई न दीखता था। इसलिए सब-साथ में जब इन के ममेरे माई का जन्म हुआ तब इनकी खुशी का ठिकाना नहीं था। जब इन का बस बलता तो उड़ी बसत उठे अपने बास से बाते और क्या बखरत कि उसे कुछ खिलाने में लग जाते क्योंकि गुरुकुल में यह बखतर दूर से अपने ममेरे माई का ठाका करते थे और जब वह इन की तरफ देखता था तब दोनों मुस्करा देते थे और फिर यह मुस्कराहट हँसी में तबरीस हो जाती थी।

होमहार की बात कि गुरुकुल में भी इन से छोटा सिर्फ इन का ममेरा माई ही था बाकी सब बड़े थे। गुरुकुल की स्थापना सन् ११ में हुई थी और उस के शुरू के पाँच ब्रह्मचारियों में से यह भी एक थे।

जीनेन्द्र का गुरुकुल-जीवन ✓

1311

(जीनेन्द्र गुरुकुल का दिया हुआ नाम है। सन् ११ को ब्याग मुरी तीज से पहले जीनेन्द्र का नाम बालम्बी नाम था।)

गुरुकुल में सन् ११ के साल होते होते ४० ब्रह्मचारी हो गए थे। उन ४० में

सिर्फ एक ही विचारों या जो इतना ही कुशाग्र-बुद्धि या चितना जैनग्रन्थ और उस का नाम या रामेन्द्र। गुरुकुल के अधिष्ठाता सीक-सीक चलने वाले धारणी नहीं थे। वे सीक-सीक पर नहीं करते थे जो उन को ठीक लगता था। गुरुकुल का ग्राम नियम था सुबह चार बजे उठना और रात को भी बजे सो जाना। पर जैनग्रन्थ और रामेन्द्र इन दोनों ही के लिए ये काम मुश्किल ही नहीं असम्भव थे। इन को भी बजे तक बसना इतना ही कुछ काम या चितना किसी को रस्ती बाँध कर बढ़ा रहना और चार बजे उठना उठना ही मुश्किल काम या चितना जानी बोरे को खड़े रखने की कोशिश करना। देर से उठने और जल्दी सो जाने के ऐंठों (धगर ये ऐंठ हूँ) के साथ-साथ इन दोनों में पढ़ने-लिखने के अनेक दुःख थे इसलिए ये दोनों चार बजे उठने और भी बजे सोने के व्यवहार बनाए गए। और इस व्यवहार की वजह से इन के साथी ब्रह्मचारी इन से कोई माह नहीं करते थे। इन का धारण करते थे और इन को ठेकेदार के नाम से पुकारते थे (ठेकेदार यों कि वे अपना पाठ ग्राम को जब सुना दें तभी से वे सोने के लिए प्रार्थना से) उठने के लिए यों प्रार्थना से कि गुरुकुल की बात क्रियाओं में ये ठीक वक्त पर धामिल हो जाते थे) (गुरुकुल की पढ़ाई लिखाई में जैनग्रन्थकार को सिर्फ होशियार ही नहीं कहा जा सकता काफी से ज्यादा होशियार कहना पड़ेगा क्योंकि उन्नत के लिहाज से तीसरे दर्जे में सब से अधिक धर्मा पर भी सिर्फ इस बास्ते यह चीनी कला में नहीं बढ़ाए गए थे कि उस कलास की पढ़ाई का धर्म उस उन्नत के वास्तव के लिए, गुरुकुल के मुख्य अधिष्ठाता की तब से काफी से ज्यादा था। हमें याद है कि यह सुन कर जैनग्रन्थ को काफी तकलीफ हुई थी पर मर्जी के माफिक भूमने फिरने के आग्रह में वह तकलीफ जल्दी ही भुलाई जा सकी थी।

एक बार मुख्य अधिष्ठाता का एक हल्का-सा अपराध सा कर वह बुरी तरह विमर्श से और वह इस वजह से कि जिस बात के लिए इन्हें सब मिनी की उस में इन का कोई कसूर नहीं था। इन्होंने ने अपनी सफाई देकर यह धमकी तरह साबित कर दिया कि इन को जो अपराध लगा है वह एक बैकमूर को लगा है। मुख्य अधिष्ठाता एक समझदार धारणी थे उन्होंने ने इस से माफी माँगी जिस के जवाब में यह बोले “माफ के माफी माँगने से जो अपराध मेरे मन बना है वह बैसगा हुआ तो नहीं हो सकता ?

इस पर अधिष्ठाता भी बोले—“तो फिर माई अपराध की जगह अपराध माउ सो।”

इस के जवाब में इन्होंने ने कहा कि ऐसा करना तो और भी बुरा होना और

ऐसा करने से भी मुझ को लगा हुआ जपत बैलगा हुआ जैसे हो लगता है। बाहिर फेंकना इस बात पर हुआ कि अचिन्ता जी चाहता इस बात का बहुत क्यास रखे कि बैकसूर किसी को छोटी से छोटी सजा भी न दी जाए। जब का यह बिस्म है उस वकत जैनेन्द्रकुमार का नवां बरस चल रहा था।

यह हम कह ही चुके हैं कि जैनेन्द्रकुमार पक्काई लिखाई में सब से आगे थे। छ महीने पढ़ने-लिखने से छुट्टी पाकर धीरे धपना समय खिल-कूद में बिता कर भी यह किसी से पीछे नहीं रहे। यह सब तो था पर बीसने धीरे लिखने में यह अपनी कला में आखिरी सिरे पर थे। यह ठीक है कि अपने वर्ग में सब से छोटे थे पर इस से क्या। कला में जब सब से प्रयत्न थे तब बीसने धीरे लिखने में भी प्रयत्न होना चाहिए था। इन की कला में यह नौ बरस के थे धीरे बाकी सब बाह्य धीरे ठग के बीच के थे। थोड़ा-थोड़ा तो सभी बोल सेठे थे पर उन में से तीन चार तो ऐसे थे जो अचानक दिए हुए विषय पर पन्द्रह-बीस मिनट तक बोल सकते थे। उन में से एक ब्रह्मचारी ने तो एक मछली उपदेशक के व्याख्यान का पंद्रह पाँच मिनट की तसारी के बल पर समा के रज पर किया था। पर इन सब बातों का कभी कोई असर जैनेन्द्रकुमार पर नहीं हुआ। यह पुरस्कुल की समा में कभी एक मिनट बोल कर नहीं दिए धीरे न कभी पुरस्कुल के हाथ सिले रंग चीन में अपने नाम से एक साइन की। प्रध्यापकों धीरे सीधों ने कभी-कभी मजबूर भी किया पर मुख्य अचिन्ता ने इन पर कभी कोई धोर नहीं डाला।

धीरे ब्रह्मचारियों के लिहाज से इन की सुराज काफी कम थी। इसी कम थी कि बिम्बा का विषय बन गई थी। पर पुरस्कुल के शास्त्र ने यह समझदायी ही की कि इन की बीमार नहीं समझ। उस की एक बजह यह भी थी कि इस कमपुराकी में भी इन का एक साथी था धीरे वह इन से भी ऊँची आगे था। वह तो दिन भर में पत्र-पत्रों चार रोटीयों के ज्यादा नहीं खाता था दूध भी बहुत ही कम पीता था। पर उस की कमपुराकी की बजह यह थी कि वह तीन-तीन चार चार रोज दूरी नहीं जाता था। पर जैनेन्द्र के साथ तो यह बात नहीं थी। यह ठीक है कि पुरस्कुल का खाना काफी भारी होता था, पर वह तो सभी के लिए था। जैनेन्द्र की उम्र के धीरे बाह में घाण छोटे ब्रह्मचारी भी जैनेन्द्र से सबाया धीरे द्योड़ा या सकते थे। बस कम खाने की बात की जिसे इसलिए बिम्बा की बात नहीं समझ गया कि खिल-कूद में जैनेन्द्र पूरा हिरता सकते थे धीरे सब में प्रयत्न नहीं थे तो सब से पीछे भी नहीं थे।

पुरस्कुल में शतरेज खिलना मना न था। मना कसा एक तरीके से खिलना जाता था धीरे उठे किसी इतर तक जरूरी समझा जाता था। हाँ उस के दिन



सिर्फ एक ही विचारों का, जो इतना ही कुशाग्र-बुद्धि का जितना बीनेन्द्र और उस का नाम था रामेन्द्र। गुरुकुल के अधिष्ठाता सीक-सीक बनने वाले धारमी नहीं थे। वे सीके-सीके पर बही करते थे जो उन को ठीक सूझता था। गुरुकुल का ग्राम निमम था मुबह चार बजे उठना और रात की नी बजे सो जाना। पर बीनेन्द्र और रामेन्द्र इन दोनों ही के लिए वे काम मुश्किल ही नहीं असम्भव थे। इन को नी बजे तक बसाना इतना ही बुरा काम था जितना किसी को रस्सी बांध कर सड़ा रखना और चार बजे उठना उतना ही मुश्किल काम था जितना बाली बोरे को सड़े रखने की कोशिश करना। रैर से उठने और बस्ती से जाने के ऐसी (धरत से ऐसी हैं) के साथ-साथ इन दोनों में पड़ने मिलने के घनेक मुम के इसलिए वे दोनों चार बजे उठने और नी बजे सोने के व्यवहार बनाए गए। और इस व्यवहार की बजह से इन के साथी बह्मचारी इन से कोई बाह नहीं करते थे। इन का सादर करते थे और इन को ठेकेदार के नाम से पुकारते थे / ठेकेदारों कि वे अपना पाठ ग्राम को जब सुना दें तभी से वे सोने के लिए भोजन थे / उठने के लिए यों भोजन थे कि गुरुकुल की खास क्रियाओं में वे ठीक वक्त पर शामिल हो जाते थे ) गुरुकुल की पढ़ाई-लिखाई में बीनेन्द्रकुमार को सिर्फ होपिचार ही नहीं कहा जा सकता काफ़ी से ज्यादा होपिचार कहना पड़ेगा क्योंकि उम्र के लिहाज से तीसरे बजे में सब से बम्बल धाने पर भी सिर्फ इस बातसे यह जीबी कक्षा में नहीं बढ़ाए गए थे कि उस क्लास की पढ़ाई का बोझ उस उम्र के बालक के लिए, गुरुकुल के मुख्य अधिष्ठाता की नजर में काफ़ी से ज्यादा था। हमें याद है कि यह मुम कर बीनेन्द्र की काफी तकलीफ हुई थी पर सबों के माफिक बूमने-फिरने के ध्यान में वह तकलीफ बस्ती ही मुताई का सही थी।

एक बार मुख्य अधिष्ठाता का एक हल्का-सा अपठ जा कर यह बुरी तरह दिवड़े से और वह इस बजह से कि जिस बात के लिए इन्हें सब मिथी थी उस में इन का कोई कसूर नहीं था। इन्होंने न अपनी सफाई दे कर यह प्रणुति तरह साबित कर दिया कि इन को जो अपठ गया है वह एक बैकसूर को लगा है। मुख्य अधिष्ठाता एक समझदार धारमी थे उन्होंने न इन से माफी मांगी बिन के पबाब में यह बोले “आप के माफ़ी मांगने से जो अपठ मेरे लग गया है वह बैतपा हुआ तो नहीं हो सकता ?”

इस पर अधिष्ठाता जी बोले—“तो फिर माई अपठ की बजह अपठ मार लो।”

इस के पबाब में इन्होंने कहा कि ऐसा करना तो और भी बुरा होना और

देता करने से भी मुझ को सया हुआ बचपन बैसगा हुआ जैसे हो सकता है।  
बासिर वैससा इस बात पर हुआ कि मजिस्ट्रेट जी साहबवा इस बात का बहुत  
ख्याल रखते कि बैकधूर किसी को छोटी से छोटी सजा भी न दी जाए। जब का  
यह बिक है उस वकत जैनेन्द्रकुमार का नया घर बन रहा था।

यह हम कह ही चुके हैं कि जैनेन्द्रकुमार पढ़ाई सिखाई में सब से धाने थे।  
छा' महीने पढ़ने-सिखने से छुट्टी पाकर और अपना समय खेल-कूद में बिता कर भी  
यह किसी से पीछे नहीं रहे। यह सब तो था पर बीसने और सिखने में यह  
अपनी कक्षा में बासिरी सिरे पर थे। यह ठीक है कि अपने दर्जे में सब से छोटे थे  
पर इस से बड़ा। नमास में जब सब से अगल के तब बोलने और सिखने में भी  
अगल होना चाहिए था। इन की कक्षा में यह भी बरस के थे और बाकी सब  
बाय् और टैरह के बीच के थे। बड़ा-बोड़ा ठा' सभी बोल सेठे थे पर उन में से  
तीन बार तो ऐसे थे जो अचानक बिप हुए बिप पर पन्द्रह-बीस मिनट तक बोल  
सकते थे। उन में से एक बहादुरी ने तो एक मजहूर उपरिष्ठ के व्याख्यान का  
अंजन पाँच मिनट की तैयारी के बस पर समा के मंच पर किया था। पर इन  
सब बातों का कभी कोई असर जैनेन्द्रकुमार पर नहीं हुआ। वह मुस्कृत की सभा  
में कभी एक मिनट बोल कर नहीं दिए और न कभी मुस्कृत के हाथ सिखे मँग  
बीन में अपने नाम से एक साहज बी। अगलापकों और लोगों ने कभी-कभी मजहूर  
भी किया पर मुख्य मजिस्ट्रेट जी इन पर कभी कोई खोर नहीं जाता।

और बहादुरियों के सिवाय से इन की सुराह काफी कम थी। इतनी कम  
थी कि बिम्बा का बिपन बन गई थी। पर मुस्कृत के डाक्टर ने यह समझवायी  
ही की कि इन को बीमार नहीं समझा। उस की एक बजह यह भी थी कि इस  
कमबुराकी में भी इन का एक साथी था और वह इन से भी कहीं धाने था। वह तो  
दिन भर में पतली-पतली बार रोटियों से खाता नहीं खाता था दूध भी बहुत ही  
कम पीता था। पर उस की कमबुराकी की बजह यह भी कि वह तीन-तीन बार  
बार रोह टही नहीं खाता था। पर जैनेन्द्र के साथ तो यह बात नहीं थी। वह ठीक  
है कि मुस्कृत का सागा काफी भारी होता था, पर वह तो सभी के लिए था।  
जैनेन्द्र की उम्र के और बाद में आए छोटे बहादुरी भी जैनेन्द्र से सबाबा और  
इबोड़ा हो सकते थे। बस कम खाने की बात को सिर्फ इसलिये बिम्बा की बात  
नहीं समझ बसा कि खेल-कूद में जैनेन्द्र पूरा हिस्सा लेते थे और सब में अगल  
नहीं थे तो सब से पीछे भी नहीं थे।

मुस्कृत में सतराज खेलना मना न था। मना कैसे एक छरीके से खेलाया  
जाता था और सबे किसी हद तक जरूरी समझ जाता था। हाँ, एक के दिन

धीरे बल्ल भियत थे। घटरंज के खेल में जीनेन्द्र कई घण्टाओं से भी घण्टा खेल बैठे थे।

किसी बजह से जीनेन्द्रकुमार की अपनी तानीम पूरी किए बिना मुस्कन्स छोड़ना पड़ा और सन् १८ में इन्होंने मास्टर बमर्बस सिंह जी के पास बिजलीर में रह कर पंजाब मेट्रिक की तैयारी की। जिस साल गांधी जी के पकड़े जाने की बजह से दिल्ली में गोली बनी उसी साल इन्होंने पंजाब मेट्रिक का इम्तहान दिया और इत्फाक से दिल्ली टाउन हास पर जिस बल्ल गोली बनी थी उस बल्ल बीरू बरस के जीनेन्द्रकुमार वहीं बीरू के धीरे उस पोली कॉड की यह ऐसे बैठते रहे मानी इन के लिए वह एक मामूली बैस था। )

मेट्रिक करने के बाद वह बनारस यूनिवर्सिटी में दाखिल हो गए और सन् २० में जब असहयोग आन्दोलन लोगों के साथ शुरू हुआ तब इन्होंने अपने मामा को एक पत्र लिखा कि कानेज छोड़ कर आन्दोलन में हिस्सा लेना चाहते हैं। इस के जवाब में इन के मामा ने लिखा कि होना तो यह चाहिए था कि तुम मुझे खबर देते कि तुम ने कानेज छोड़ दिया है न कि यह कि तुम मुझ से कानेज छोड़ने की इजाजत चाह रहे हो। इस बात को या कर इन्होंने नहीं किया जो करने के लिए वह बात उन्हें भिन्नक रहा था। जीनेन्द्रकुमार का इस बात सोलहवां वर्ष बस रहा था।

जीनेन्द्रकुमार का इस से आगे का जीवन बालकपन की हद से परे बसा जाता है इसीलिए इस को हम यहीं खत्म करते हैं।

## जैनेन्द्रकुमार • व्यक्तित्व की एक मांकी

—डा० शान्ति प्रसाद वर्मा

[जैनेन्द्रकुमार से मेरा प्रथम परिचय उन की एक कहानी 'घंसी' के द्वारा हुआ जो सम्भवतः १९२२ में 'व्यापमूर्ति' में प्रकाशित हुई थी। इस कहानी के साथ 'व्यापमूर्ति' के तत्कालीन साहित्य-सम्पादक श्री रामनाथ 'सुमन' की एक टिप्पणी भी थी। यदि वह टिप्पणी न भी होती तो भी उस कहानी में जो तात्त्विक, मौलिकता, वर्णन-शैली की कितनी खूबियाँ और मानवीय भावनाओं की पहचान भी उस से कोई भी पाठक प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता था। हिन्दी-साहित्य में वह एक क्रांतिकारी देन थी। उस के बाद ही जैनेन्द्रकुमार की अनेक ऐसी कहानियाँ प्रकाशित हुईं जिन से हिन्दी का कथा-चित्रण आकृति और तत्व दोनों की दृष्टि से सबका बदल गया।]

परन्तु जैनेन्द्रकुमार ने जब कहानी लिखना शुरू किया था तब इस प्रकार की कोई पृष्ठभूमि उन के सामने नहीं थी। उन्हें इस प्रकार के साहित्य-निर्माण की प्रेरणा वहाँ से मिली यह कहना कठिन है। केवल यही कहा जा सकता है कि वह एक प्रभुमत्त इतिहास लेकर हिन्दी जगत में आए। बाद में उन का 'परख' नाम का उपन्यास पढ़ने को मिला। उस में भी स्नेह और आत्मीयता का एक ऐसा मधुर वातावरण था और कठोर का खरिब इतना मानिक बन गया था कि उस का महान प्रभाव मन पर पड़ा। बर इस के पहले हिन्दी में आर्य-साहित्य के ऐतिहासिक संयोजन के अनेक अन्य उपन्यास प्रकाशित हो चुके थे, और 'परख' की ऐतिहासिक की दृष्टि से एक क्रांतिकारी देन मानने में बाधक कठिनाई हो। परन्तु उन वर्षों में जैनेन्द्र की श्रुति भी कहानियाँ प्रकाशित हुईं उन सब में एक ऐसा मनोधानन और मार्ग की एक ऐसी मार्मिकता थी कि यह मान लेने से किसी को कठिनाई नहीं हो सकती थी कि हिन्दी-साहित्य में एक नई प्रभावशाली स्थिति में जन्म लिया था।

(- जैनेन्द्रकुमार से व्यक्तिगत परिचय १९३४ में दिल्ली में आयोजित हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के वार्षिक अधिवेशन के अवसर पर हुआ। जैनेन्द्रकुमार

धीर वक्त नियत थे। छात्ररंज के खेल में जैनगद्ग कई प्रध्यापकों से भी प्रख्यात खेल पते थे।

किसी वजह से जैनगद्गकुमार को अपनी छात्रीय प्रीति किए बिना बुरकूल छोड़ना पड़ा और सन् १८ में इन्होंने मास्टर बसवंत सिंह जी के पास बिजनीर में रह कर पंजाब मीट्रिक की तैयारी की। जिस साल माँजी जी के पकड़े जाने की वजह से दिल्ली में गोपी लाल उसी साल इन्होंने पंजाब मीट्रिक का इम्तहान दिया और इतफाक से दिल्ली टाउन हाल पर जिस वक्त गोपी लाल भी उस वक्त चौदह बरस के जैनगद्गकुमार वहीं मौजूद थे और उस योनी कांड को यह ऐसे देखते रहे मानो इन के लिए वह एक मामूली खेल था। )

मीट्रिक करने के बाद वह बनारस यूनिवर्सिटी में वासिल हो गए और सन् '२० में जब प्रसहसोध प्राम्बोलन ज़ोरों के साथ शुरू हुआ तब इन्होंने अपने मामा को एक पत्र लिखा कि कालेज छोड़ कर प्राम्बोलन में हिस्सा लेना चाहते हैं। इस के जवाब में इन के मामा ने लिखा कि होना तो यह चाहिए या कि तुम मुझे खबर देते कि तुम ने कालेज छोड़ दिया है न कि यह कि तुम मुझ से कालेज छोड़ने की इजाजत चाह रहे हो। इस बात को पा कर इन्होंने बही किया जो करने के लिए वह बात इन्होंने भिन्नक रखा था। जैनगद्गकुमार का इस बात सोसहवां वर्ष बात रखा था।

जैनगद्गकुमार का इस से घाने का जीवन वासकपन की हद से परे जाता जाता है, इसलिए इस को हम यही समझ करते हैं।

## जैनेन्द्रकुमार : व्यक्तित्व की एक मांकी

—डा० शान्ति प्रसाद वर्मा

[जैनेन्द्रकुमार से मेरा प्रथम परिचय उन की एक कहानी 'कांठी' के द्वारा हुआ जो सम्मन्वित-१९२९ में 'रमायन्मूर्ति' में प्रकाशित हुई थी। इस कहानी के साथ 'रमायन्मूर्ति' के उत्कृष्टतम साहित्य-सम्पादक श्री रामनाथ 'धुमन' की एक टिप्पणी भी थी। यदि वह टिप्पणी न भी होती तो भी उस कहानी में जो ताजगी, मौलिकता, वर्चस्व-शीली की विचित्रता और यावर्षीय बाधनाओं की सहृदयता की उस से कोई भी पाठक प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता था। हिन्दी-साहित्य में वह एक क्रांतिकारी रत्न थी। उस के बाद तो जैनेन्द्रकुमार की अनेक ऐसी कहानियाँ प्रकाशित हुईं जिन से हिन्दी का कथा-विशेष साहित्य और उसके लेखकों की दृष्टि से सर्वथा बदल गया।]

परन्तु जैनेन्द्रकुमार ने जब कहानी लिखना शुरू किया था तब इस प्रकार की कोई धुमधूम उन के सामने नहीं थी। उन्हें इस प्रकार के साहित्य-निर्माण की प्रेरणा कहाँ से मिली वह कहना कठिन है। केवल यही कहा जा सकता है कि वह एक धर्ममूर्त प्रतिभा लेकर हिन्दी जगत में आए। बाद में उन का 'बरख', नाम का उपन्यास पढ़ने को मिला। उस में भी स्नेह और दारमीत्यता का एक ऐसा मधुर वातावरण था और कठुई का चरित्र इतना मार्मिक बन पड़ा था कि उस का महान् प्रभाव मन पर पड़ा। पर इस के पहले हिन्दी में धर्म-साहित्य के प्रतिरिक्त संभवा के अनेक धर्म उपन्यास प्रकाशित हो चुके थे और 'बरख' की ऐदनीक की दृष्टि से एक क्रांतिकारी रत्न मानने में बाधद कठिनाई हो। परन्तु उन वर्षों में जैनेन्द्र की जितनी भी कहानियाँ प्रकाशित हुईं उन सब में एक ऐसा अनोखापन और भावों की एक ऐसी मार्मिकता थी कि यह ध्यान करने में किसी को कठिनाई नहीं हो सकती थी कि हिन्दी-साहित्य में एक बड़े प्रभावशाली व्यक्ति ने जन्म लिया था।

(— जैनेन्द्रकुमार से व्यक्तिगत परिचय १९३४ में दिल्ली में आयोजित हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के मार्मिक सम्बोधन के अवसर पर हुआ। जैनेन्द्रकुमार

साहित्य-परिषद् के मंत्री थे) माकानसाम जतुबेदी प्रम्यस। अर्थात् बिना साहित्य परिषद् का अधिवेशन था। मैं ने जब कार्यक्रम के सम्बन्ध में जैनेन्द्र जी से पूछा तो उन्होंने मुझे बँठा दिया और कहा—“भायो हम लोग बैठ कर एक स्पर्धा बना लें। यह देख कर मुझे आश्चर्य हुआ कि जैनेन्द्र जी ने अपने उत्तरदायित्व को इतने सहज भाव से लिया था—मार्गो उस का कोई बोझ धन पर न हो। अधिवेशन के प्रवचन पर बैठने सुबनधीस साहित्यकार बिस्ती में एकत्र हुए वे जन सब से मैं ने साहित्य-रचना के अपने अनुभवों पर प्रकाश डालने के लिए कहने का सुझाव दिया। तब हम लोगों ने उद्घाटन करना शुरू किया कि सुबनधीस साहित्य का निर्माण करने वाले ऐसे कितने लेखक वहाँ उपस्थित थे और बड़ी उदात्त के साथ केवल प्रेमचन्द ऐसे व्यक्ति दिखाई दिए बिना से इस प्रकार की प्रार्थना की जा सकती थी। प्रेमचन्द जी के पास हम लोग पहुँचे—कॉन्वेंट कालेज के एक बड़े हॉल में ४०-१० छात्रों के बीच कहीं धन की भी एक साट थी—और हम ने अपनी प्रार्थना उन के सामने रखी। प्रेमचन्द जी ने अपने सहज सरल स्वभाव और निश्कल एवं निष्कपट हँसते कहा—‘मैं तो समा-सम्मेलनों में बोलता नहीं हूँ बोल भी नहीं सकता। मुझ से आप इस प्रकार की प्रार्थना न करें।’ प्रभाव बिस्मविद्यालय के अपने विद्यार्थी-जीवन में मैं हिन्दी के कई लेखकों से मिल चुका था। (कई साहित्य-जीवियों में भी सम्मिलित हुआ था परन्तु प्रेमचन्द—जैसे प्रथम श्रेणी के साहित्यकार से मिलने का यह पहला अवसर था। प्रेमचन्द की बिनती तब भी हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ साहित्यकारों में थी।) जैनेन्द्र का नाम हिन्दी में नया था। कुछ ने उन की कला की प्रशंसा की थी परन्तु अधिकतर उन्हें उपेक्षा की दृष्टि से ही देखते थे। पिछले एक-दिन में जैनेन्द्र जी से मेरी निकटतम आत्मीयता हो गई थी—अधिकतर समय हम लोग साथ रहे थे। जैनेन्द्र प्रेमचन्द जी को बड़े आदर की दृष्टि से देखते थे। परन्तु मुझे यह देख कर कुछ आश्चर्य हुआ कि प्रेमचन्द जी से बात करते समय किसी प्रकार की झिगता का भाव उन में नहीं दिखाई देता था। सहज भाव से उन्होंने ने कहा—“आप जरूर बोलिए, बोलने में कोई कठिनाई नहीं होगी। मैं भी बोल लता हूँ। अभी इस दिन प्रमुख कालेज में मुझे निमन्त्रित किया गया था। वहाँ पर मैं बोला और काफ़ी प्रशंसा बोला।”)

अपने बिस्ती-प्रवास के तीन-चार दिनों में जैनेन्द्र जी धनीपचारिकता उन का आत्मविश्वास व्यक्तिगत सम्बन्ध स्थापित करने की उन की अद्भुत क्षमता इन सब बातों का मुझ पर गहरा प्रभाव पड़ा। बिस्ती के हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के अधिवेशन में मुझे अन्य लेखकों, उपन्यासकारों एवं कवियों से मिलने का

प्रबलर भिता। परन्तु उस के बाद जब मैं ने अपने कुछ संस्मरण लिखे तो कुछ के साथ उन में यह भी लिखा—“हिन्दी में मुझे चरित्र की ज्यादा धीर यत्तिष्क की प्रशंसा इन दो बातों की कमी नजर आती है।” परन्तु विल्ली से जब मैं सीटा तब उन में यह कुछ धारणा लेकर सीटा कि बैनेन्द्रकुमार इस प्रशंसा के प्रभाव हैं। चरित्र धीर बुद्धि—दोनों ही क्षेत्रों में उन की प्रशंसा की एक पट्टी छाप मुझ पर पड़ चुकी थी।

धीरे-धीरे बैनेन्द्रकुमार हिन्दी में चर्चा के अच्छे साधे विषय बन गए। कुछ लोगों ने कहा कि उन में धर्तृकार का तत्व बहुत प्रबल है। वह अपने सामने किसी को कुछ समझते ही नहीं कुछ ने उन के भाषणों को सम्य-वास से सना हुआ बताया और कुछ ने कार्टून बीचे जिन में दिखाया गया कि बैनेन्द्रकुमार धाकाघ (प्रबला कमरे की छत) की ओर देखते हुए एक बड़े तारबद्धों की मुद्रा में भाषण कर रहे हैं—आगे यह उन का एक पोज़ हो।

इन्हीं वर्षों में कभी विल्ली कभी इन्वीर, कभी किसी अन्य स्थान पर, बैनेन्द्रकुमार से भेटा मिलना हावा रहा और उन से स्नेह-सम्बन्ध प्रभाव बनते गए। मुझे अब यह तो याद नहीं कि उन दिनों जब बैनेन्द्रकुमार किसी सभा में बोलते थे तब उन के चेहरे का मुद्राव कितना धाकाघ की ओर होता था और कितना सामने की ओर। परन्तु धर्तृकार की भाषना मुझे उन में कभी नहीं दिखाई थी। हीनता की भाषना भी उन में नहीं थी जिस की अपेक्षा चायद साहित्य के क्षेत्र में घाने वाले गए व्यक्ति से की जा सकती। पर जिस घाग से बैनेन्द्रकुमार हिन्दी-साहित्य में आए थे—एक धूमकेतु के समान—उसे देखते हुए उन में हीनता की भाषना की अपेक्षा करना भी असंगत होता। इन के साथ ही घुपने और बड़े साहित्यकारों के प्रति निरादर की भाषना भी उन में कभी नहीं रही—न चर्चों में न व्यवहार में। माकमलास प्रेमचन्द बबाहरलास नेहरू सभी से बातचीत करते हुए मैं ने उन्हें सदा सरल और स्वाभाविक ही पाया। १९१६ में नायपुर के भारतीय साहित्य-परिषद् में हिन्दी के सम्बन्ध में जिस बहस से बबाहरलास बी के सामने उन्हीं ने अपने निचार रखे उसे देख कर तो मुझे वोका धारण्य भी हुआ (इस कारण धीर भी कि धनेक महारूपियों को बबाहरलास बी के सामने अपना साहस धीर मानसिक संतुलन खोते हुए भी मैं ने देखा है)। वास्तव में मैं यह कहना चाहता हूँ कि बैनेन्द्रकुमार के व्यक्तित्व में किसी भी प्रकार की कठितता ऐसीरणी प्रबला धाकम्बर नहीं है। वह भीतर से भी उठने ही सरल और स्वाभाविक है, जितना बाहर से। मैं नहीं कह सकता कि उन के व्यक्तित्व के इन दुनों की उन की माया में और उन के



चिन्तन में कहीं तक अभिव्यक्ति हुई है क्योंकि उन की भाषा में कई बार बटि सटा दिखाई देती है और उन के चिन्तन में गहराई होवे हुए भी वह कई बार बटिस हो जाता है।

हिन्दी-अभिव्येक्षण के एक वर्ष बाद ही १९३५ में इन्दीर में गांधी जी के सम्पादितत्व में सम्मेलन का आयोजन किया गया। इस बार में साहित्य-सम्मेलन था। प्रेमचन्द तो था नहीं उनके पर अनेक अन्य साहित्यकारों को इकट्ठा करने में हम सोच सफल हुए थे। इन्दीर-अभिव्येक्षण में जैनेन्द्र के उद्योगमान व्यक्तित्व का एक नया रूप सामने आया। इन्दीर में अनेक प्रवेशों के सोच रहते हैं। हिन्दी और मराठी भाषा-भाषियों की संख्या तो समान बराबर ही है, परन्तु कई हजार बुजबुजी (जिन में पारसी भी सम्मिलित हैं) बंगाली तथा दक्षिण भारत की भी रहते हैं। मैं उन दिनों बड़ी सीधता के साथ यह अनुभव कर रहा था कि राष्ट्रीय एकता की दृष्टि से विभिन्न प्रांतीय साहित्यों के साथ निकट का सम्पर्क स्थापित किया जाना आवश्यक है। श्री कर्नूलाल माणिकलाल मुंशी उन दिनों इन्दीर आए हुए थे अपने किसी मुकदमे के सम्बन्ध में। हिन्दी के साहित्य-जगत में तब तक उन का विशेष परिचय नहीं था। बुजबुजी के तो वह सम्बन्ध-संलिप्त लेखक थे ही। प्रांतीय साहित्यों को निकट लाने के सम्बन्ध में मैं ने उन से बातचीत की। उन्होंने ने कहा कि कुछ महीने पहले बम्बई में प्रेमचन्द से उन की इस प्रकार की बातचीत हुई थी। तब हम दोनों ने 'भारतीय साहित्य-परिषद्' के नाम से एक ऐसी संस्था स्थापित करने की जर्ज की जिस के माध्यम से इस प्रकार का साहित्यिक सहयोग स्थापित किया जा सकता था। गांधी जी के निवास-स्थान पर महादेव देसाई तथा काका कामेसकर से जब इस सम्बन्ध में बातचीत हुई तब जैनेन्द्र भी उस में सम्मिलित थे। उस के बाद गांधी जी से हम ने जर्ज की। उन का छापीलार मिला और 'भारतीय साहित्य-परिषद्' की नींव पड़ी। १९३६ में नागपुर में हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के वापिक अभिव्येक्षण के साथ ही 'भारतीय साहित्य-परिषद्' का पहला अधिवेशन गांधी जी के सम्पादितत्व में किया गया। उस में प्रेमचन्द भी उपस्थित थे। जैनेन्द्रकुमार तो थे ही। अग्य भाषाओं विशेषकर उर्दू के कुछ लोग—नीलबी सम्भुस हज्र मुजीब खादि—भी उस में शामिल थे। प्रेमचन्द पहले ही अपनी पत्रिका 'हंस' 'भारतीय साहित्य-परिषद्' को सौंप चुके थे। नागपुर अधिवेशन के कुछ महीनों के बाद ही वह इसे छोड़ कर चले गए, परन्तु वहाँ में 'हंस' के माध्यम से भारतीय भाषाओं के बीच एक मुक्त आदान प्रदान का जो महत्वपूर्ण प्रयत्न किया गया जैनेन्द्रकुमार का उस में सम्पूर्ण और निराधीन सहयोग था।

हिन्दी के लेखक के लिए इस प्रकार के अन्तरभारतीय आयोजन में इतना अधिक सहयोग देना तब एक नई बात थी। इस के प्रमाण में मैं एक व्यक्तिगत अनुभव देना चाहूंगा। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के इन्दौर-अभिवेशन में रामचन्द्र शुक्ल साहित्य-परिषद् के मनोनीत समापति थे। वह समय पर इन्दौर पहुँच नहीं सके। इस कारण हमें साहित्य-परिषद् का अभिवेशन समते दिन प्राठ-काय के लिए स्थगित करना पड़ा, जब सबेरे भी सन के पहुँचने में देर हुई तब मैं ने सोचा कि प्रांतीय भाषाओं में जिस सहयोग की जर्ना हम लोगों ने पिछले दिन धारम्भ की थी उसे दृष्टि में रखते हुए यह धूम प्रतीक होना कि बी मुँची को साहित्य-परिषद् का समापति बनाया जाय। बह्व्य टंकम भी को जब यह पता लगा तब वह बड़े नाचाब हुए। उन्होंने ने मुझ से कहा—“मैं पर हिन्दी के बड़े साहित्य-कारों के होते हुए भी आप हिन्दी से बाहर के किसी व्यक्ति को क्यों समापति मनाता चाहते हैं ?” हिन्दी में जब इस प्रकार का वातावरण था तब भी जीनेन्द्र कुमार हिन्दी-साहित्य की संकीर्ण परिधि की सोच कर अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्य में पर्याप्त शिलचस्पी ले रहे थे।

१९३४ और '३६ के बीच अनेक ऐसे अवसर आए जब जीनेन्द्रकुमार के साथ अच्छी साहित्य और जीवन सम्बन्धी अनेक व्यापक और गहनतम विषयों पर बातचीत करने का अवसर मिला। १९३६ के धारम्भ में दिल्ली से उन्होंने ने एक हिन्दी-परिषद् का आयोजन किया जिस में हिन्दी में सम्भवतः पहली बार साहित्य के सम्बन्ध में गहराई के साथ विवेचना हुई। जहाँ तक मुझे याद है, धारम्भ कीसस्यायन, अन्त में प्राति अनेक प्रमुख साहित्यकारों ने उस में भाग लिया था। उसके कुछ महीनों के बाद इन्दौर में मैं ने उन्हें नियमित किया। मुझे याद भी याद है कि अपने कुछ मित्रों के साथ जिन में इन्दौर के कुछ पत्रकारों में से थे, जब मैं उन्हें लेने स्टेशन पहुँचा तब एक जाँचिवा और कमीन पहने वह तीसरे दर्जे के एक डिब्बे में से बाहर निकले थे। तब तब जीनेन्द्र इतने अधिक प्रसिद्ध हो गए थे कि इन्दौर में अनेक समारोहों में उन्हें बोलना पड़ा और मुझे यह देख कर प्रसन्नता हुई कि हिन्दी-साहित्य की सीमाओं से वह विस्तृत बंधे हुए नहीं थे। साहित्य और जीवन के अनेक विषयों पर बड़ी मौलिकता और प्रखरता के साथ उन्होंने ने अपने विचारों को व्यक्त किया। इस बीच में जैन-समाज में सन के लिए एक बड़ा यादर का स्थापन करने का काम था। १९४३ में मैं इन्दौर से बाहर जका भावा यद्यपि वहाँ से मेरा सम्पर्क बराबर बना रहा है। एक-आध वर्ष के बाद जब मैं इन्दौर गया तब मैं ने सुना कि जीनेन्द्र उस दिन वहाँ से और किसी बड़े धार्मिक जैन-सम्मेलन की अध्यक्षता कर रहे थे।

में बड़ा गया और मैं ने उन का भाषण सुना। कुछ ऐसा लगा कि वह साहित्य के बावरे को पीर कर एक धार्मिक नेता का स्थान लेने आ रहे हैं। तत्त्व-वर्णन की एक व्यापक पृष्ठभूमि पर जैन धर्म के कुछ तत्वों की यीमांसा उन्होंने मेरी पीर में ने देखा कि समस्त जैन-समाज ने बड़ी बड़ा के साथ उन्हें सुना। पिछले कुछ वर्षों से मेरा उन से मिलना नहीं हुआ था। मुझे ऐसा लगा कि जैसे जैन-व्यक्ति का व्यक्तित्व घनामक इतना ऊँचा उठ गया है कि अब हम भोज बराबरी के स्तर पर घायब न मिल सकें। पर समा के समाप्त होने पर जैसे ही जैन-मुक्त से मिले मैं ने देखा कि वही भारतीयता सरलता और स्वाभाविकता बन में थी जो उन के व्यक्तित्व में मैं कई वर्षों से देखता आया था। मैं नहीं जानता कि बार के वर्षों में जैन-समाज में उन का क्या स्थान रहा, परन्तु यह स्पष्ट है कि धार्मिक भाषणों का आकार न कर उन्होंने ने कभी नेता बनने की कोशिस नहीं की।

जैन-व्यक्ति की साहित्यिक रचनाओं को मैं ने सदा ही उन के व्यक्तित्व के माध्यम से ही देखा है। इस कारण उन से मेरा उतना गहरा परिचय नहीं मिलता जैन-व्यक्ति के व्यक्तित्व से। 'परस' मैं ने पहले ही पढ़ ली थी। 'रामपुत्र' उस के बाद निकला। अंबला के 'कर्मवीर' में मैं ने उस पर एक आलोचनात्मक निबन्ध भी लिखा। उस के बाद कल्याणों और 'सुनीता' पढ़ी। उन की कहानियों में मुझे सदा से अधिक रुचि रही है। इन उपन्यासों के बाद वर्षों तक जैन-कुमार ने बहुत कम लिखा। कम-से-कम प्रकाशित बहुत कम किया। बीच-बीच में उन से मिलना होता रहा। कभी उन्होंने ने यह नहीं कहा कि उन्होंने लिखना छोड़ दिया है। कुछ उपन्यासों के कला-सूत्रों की वह चर्चा भी करते रहे। एक बार उन्होंने ने 'मान-नाम' के नाम से कोई उपन्यास लिखना प्रारम्भ भी किया था जो सायब बाद में 'विदर्भ' के रूप में प्रकाशित हुआ। स्वाधीनता की प्राप्ति के बाद साहित्य के क्षेत्र में जैसे भी विविधता आ गई थी। कुछ साहित्यकार राजनीति में जाने के लिए उत्सुक हुए। कुछ ने उस में प्रवेश भी किया। अधिकतर को निराशा ही मिली। उन में कुछ की भाषना का विकास हुआ। पर जैन-व्यक्ति के सम्मुख मैं कभी यह नहीं सुना कि वह इस प्रकार की कोढ़-कोढ़ में मरे हुए हों। वहाँ तक मैं जानता हूँ राजनीति में जाने का उन्होंने ने कभी प्रयत्न नहीं किया।

कई वर्षों के उन के मौन के बाद 'सुखदा', 'विदर्भ' 'अमरीत' और बाद में 'अवधर्षन काशी ठेकी के साथ एक के बाद एक प्रकाशित होते गए। इस बीच उन का प्रकाशन-संस्थान भी बन चुका था। 'अवधर्षन' एक राजनीतिक उपन्यास

है जिस में विचार-बाराहों का विश्लेषण किया गया है। इस बीच अनेक प्रतिभा भारतीय और अन्तर्राष्ट्रीय साहित्यिक संस्थाओं और समारोहों में उर्हू बड़े धावर का स्थान मिलने लगा था। भाज उम की गिनती हिन्दी के लेखकों तथा भारतीय भाषाओं के अग्रिम नेता के रूप में की जाती है। परन्तु भाज भी मैं जब भी जैनेन्द्रकुमार से मिलता हूँ तो उम में वही अहंकारहीनता और आत्मीयता मिलती है जो तीस बर्य पहले उन के साथ के प्रथम सम्पर्क में मिली थी। पिछले पैंतीस बर्यों में हिन्दी के अनेक लेखकों से भेरा निकट का सम्पर्क रहा है। उन में से अनेक को मैं ने साहित्य-सूत्रम की दृष्टि से भीष होठ हुए देखा है। कुछ में शैक्षिक बढ़ता समर धाई है और कुछ में आरिथिक पतन के चिह्न दिखाई देने लगे हैं। परन्तु जैनेन्द्रकुमार में मुझे भाज भी वैसी ही सीसिकता और सजंन सीसता दिखाई देती है जैसी धाज से पैंतीस बर्य पहले थी—साज ही साथ पैंती और विचारों में परिपक्वता बराबर बढ़ती गई है। कुछ क्षणों में अपने विचारों के सम्बन्ध में वह बदनाम बकर हुए। 'विज्ञान' नाम की उनकी एक कहानी निकली थी, जिस पर काफी बर्बा रही। अनीतिकतापूर्ण साहित्य के निर्माण का बोध उन पर सपाया जाता है। आतपीठ और पापकों में वह कई बार बड़ी आन्तिकारी बातें कह आसते हैं परन्तु मुझे पूरा विश्वास है कि उन का व्यक्तिगत चरित्र अत्यन्त प्रकर और ङंभा है। उन के साहित्य में यदि ऐसे विचार आ भी आते हैं जो नीतिकता की दृष्टि से अवांछनीय माने जाते हों—मैं उन के सम्बन्ध में बहुत कम परिचित हूँ—तब भी इस प्रकार के विचारों का कोई प्रभाव उन के व्यक्तिगत चरित्र पर मुझे कभी दिखाई नहीं दिया।

कई बार यह विचार भी सुनाई देता है कि जैनेन्द्रकुमार साहित्यकार अधिक है, अथवा आर्थिक अधिक। इस प्रकार का विचार हिन्दी साहित्य के बाहर धायव ही पुन पड़ता हो। जिस साहित्यकार का अपना दर्शन नहीं है वह लेखक क्या होगा? कला के पीछे किस प्रकार का दर्शन किस प्रकार का दृष्टिकोण किस प्रकार का धायव है—ये सभी अत्यन्त आवश्यक प्रस्न हैं। यह प्रस्न बात है कि किसी एक लेखक में दर्शन-वैसी उस की लेखन-टीसों में छिप जाती हो और किसी दूसरे में उस का आर्थिक उस के रचना-कौशल को पीछे छोड़ कर टीसी से धाये बढ़ जाता हो। हो सकता है कि जैनेन्द्रकुमार के सम्बन्ध में यह दूसरी बात सज हो। यदि सज हो तो मैं नहीं कह सकता कि उस का कारण क्या हो सकता है। क्या यह कारण है कि उन का दर्शन महज होते हुए भी कुछ विचारत हुआ-सा अस्पष्टित-सा है? यह धायव इस कारण हो कि उन का चिन्तन दर्शन की किसी विशेष पाका

सम्बन्ध नहीं रखता। यह स्पष्ट है कि थोड़ी देर की बातचीत में भी वह कुछ ऐसे गहरे विचार सामने रख देते हैं जिन के सम्बन्ध में यह बकरी हो जाता है कि घंटों तक उस पर गहन किया जाए। उन में सबैक एक न्यायन और मनोव्यापन होता है। मुझे याद है कि जैन-कुमार केवल चमत्कार उत्पन्न करने के लिए हैं। इस प्रकार की बातें सामने नहीं करते हैं। जहाँ तक मैं जानता हूँ याद न तो साहित्य के क्षेत्र में और न दर्शन के क्षेत्र में ही जैन के पीछे अनुयायियों का कोई कुट है। वह जहाँ भी हों उस समय की क्रियाओं में तन्मग्न पर उनसे प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष विचार देते हैं। यावत् इसी कारण वह जब चाहें इन लोगों की परिधियों से बाहर निकल सकते हैं और जन-साधारण से जीवन के सामान्य स्तर पर मिल सकते हैं। कई बार तो मुझे ऐसा भी मयता है कि वह साहित्य प्रकाश दर्शन के आधार पर आयोजित समाधों और योष्ठियों से भावने की चिन्ता में रहते हैं और व्यक्तिगत आधार पर ही लोगों से मिलना अधिक पसन्द करते हैं। मैं समझता हूँ कि इस में अपरिग्रह की भावना है। जैन-कुमार यदि चाहते तो अपनी प्रतिभा के आधार पर साहित्य समाज प्रकाश राजनीति किसी भी क्षेत्र में एक प्रथम श्रेणी के नेता बन सकते थे। परन्तु उन्होंने ने सदा एक 'व्यक्ति' बने रहना हैं। अधिक प्रच्छा सम्म—'व्यक्ति-विशेष' बन जाने से अपने को रोकना तो उन के बस की बात नहीं थी—और मैं समझता हूँ कि इसी में जैन की वास्तविक महानता भी है।





## हमारा दाम्पत्य जीवन

—भगवती जी

कुछ लोगों ने कहा कि मैं 'इन' पर निर्भर। कभी इस तरह का सिक्कने का मनसर तो नहीं आया है। इसलिये स्वाभाविक है कि संकाय हो। कभी सोचा भी न था कि मुझे 'इन' पर सिक्कना होना। इस से भी ३५ वर्षों के विभिन्न प्रसंगों का एक बटाटोय बन गया है। सुझ नहीं रहा है कि कैसे क्या और कहाँ से प्रारम्भ करें? सन् २२ में हमारा विवाह हुआ था। मैं वहीं से प्रारम्भ करती हूँ। सम्भव है कि आप को रोचक सामग्री सब में मिले।

सन् २८ की बात रही होगी। हमारे पिता जी के मित्र उपर्युक्त सराफ़ भाए और उन्हीं ने कहा कि एक लड़का दिल्ली में है, धरार बाहो तो उस से मनबरी का रिस्ता कर दो। मेरे पिता मास्टर बिरबम्बर छाया जी, बनठ, जिला मुख्यालय नर में रहते थे। मुख्यालय नर में एक सरकारी स्कूल में वह हेड मास्टर थे। पिता जी राखी हुए और चार पाँच घाबरी दिल्ली इन के यहाँ पहुँचे। इन के घर पर इन की माता जी—पूज्य रामदेवी बाई तथा इन के मामा महारामा मनबागवीन जी मिले थे। लोगों को यह पसन्द आए। महारामा जी का व्यक्तिगत निरासा था। उन्हीं ने काफी प्रभावित किया। तभी इन की माँ ने कहा कि मैं लड़की देखने के लिए बनठ आऊँगी। जब इन की माँ माँ आई तब पाँच के सगी बन इन की माँ के प्रार्थक व्यक्ति से जून प्रभावित हुए। वह जून सम्बी बोड़ी बहुत लम्बुस्त थीं। हमारे पिता जी ने मेरी माँ से जो उस समय बीमार थी कहा—“मनबरी को देखने के लिए दिल्ली से लड़के की माँ आई है और वे सोच का खाना खाएँगी। खाना मनबरी की ही बनाना चाहिए।” मैं ने खाना बनाया। उन्हीं ने खाना बहुत चाब से खाया। मुझ से उन्हीं ने सूत भी कठनामा और पूछा कि वहाँ तक नहीं हो? पिता जी ने बताया कि चार बसास तक पास है। इस बात पर वह कुछ नहीं बोली। मुझे वह नीचे ही नीचे बराबर देखती रहीं। दूसरे दिन ही ठहर खाना हो गई। हमारी माँ ने पिता जी से कहा कि मैं तो अपनी लड़की की सारी इन के यहाँ नहीं करूँगी। वह तो मेवर



बरीरह कुछ नहीं पहनती हैं। पिता भी ने कहा कि बैर बरीरह नहीं पहनती हैं। दिस्ती का कर इन की माँ ने महात्मा भी से श्रीरत्न इन से कहा कि मुझे सड़की पसन्द है तुम चाहो तो देख लो। इन्होंने माँ से कहा—‘तुम ने जो पसन्द कर ली है वह ठीक है, मुझे सब मन्थूर है।’ महात्मा भी ने हमारे पिता भी को सिखा कि मैं मुकपकरनगर या कर रहा हूँ। महात्मा भी बो-चार दिन बाद या गए। एक महीने तक महात्मा भी हमारे यहाँ रहे। मेरी बहिनों श्रीरत्न मुझे को खुब खिलाते पढ़ाते-सिखाते थे। महात्मा भी की कुछ दिनों बाद कुछ विविध खराब हुई। उन्होंने ने दिस्ती इन को सिखा कि कुछ फल से कर यहाँ या जाओ वे फल यहाँ मिलते नहीं। महात्मा भी के कमरे की सड़की से सड़क साफ मजदूर घाटी थी। महात्मा भी के पास उस समय में पड़ रही थी कि एकदम ठाना या कर सका। देखा कि बाँधी टोपी, खर का कुर्ता जोड़ी पहने हुए एक २६ २४ बरस का मजदूरक हाथ में टोकरी लिए हुए कमरे की तरफ या रहा है। इतना देख कर एक हुआ कि दिस्ती से कोई धाया है। यह पहचान ही मजदूर या कि इन्होंने ने देखा। मैं ‘बहो’ से एकदम भाव कर अपने घर आई। महात्मा भी ने मेरी छोटी बहन के माफत खबर खबर सिखाई कि जैनग्रन्थ धाया है। महात्मा भी ने उठी दिन इन से कहा कि तुम चाहो सड़की देख सकते हो। इन्होंने ने मना कर दिया श्रीरत्न धाम की बाड़ी से वह खाना हो गए। महात्मा भी ने बिबाह की तिथि निश्चित कर दी और कहा कि सड़के श्रीरत्न सड़की दोनों स्वयं ही बचन तैयार करें और दोनों परस्पर एक दूसरे के प्रति सम्भारण करें। धर्म-धारी या मन्मन्थ धादि रीति का पालन नहीं किया जाएगा। बिबाह राष्ट्रीय भावना से होया। इस के बाद दिस्ती से भी एक पत्र महात्मा भी का धाया कि मेरे मा कोई मेन-मेन नहीं रहेया। सड़की बैर बरीरह नहीं पहनेगी और बिबाह कर-माता से ही सम्पन्न होया। सात भावनिर्मो की बरात पड़ुंभी। बिबाह के बाद पर पाँच का गीत ही उपस्थित था। पण्डित मुन्दरसाह भी महात्मा भी दोनों ही घर के पिता थे। पाँच के लोगों के लिए यह बिबाह एक धारण्य था। बिबाह-मण्डप में धर्म की मेरी का प्रथम नहीं था। सिर्फ दो सातन थे। मण्डप में या कर मैं ने उन्हें कर-माता पहनाई और फिर उन्होंने ने मेरे बसे में जयमाला बासी। इस के परचाप मैं ने कहा कि भाप इस सातन पर पधारें। जो बचन पण्डित कराते थे हम दोनों ने पहले ही तैयार कर रखे थे और परस्पर दोनों ने एक दूसरे से वे बचन-करार कराए। वे बचन छापे भी गए थे और बड़े-बड़े इतहासों के रूप में बाँटे गए थे। यह पाँच के लोगों के लिए धार्मिक पूर्ण और रचनात्मक बात थी कि धर्म

यत्र और मन्त्र-पाठ तथा केरे घाँसि धीपचारिकताओं के बिना भी घाँसी सम्भव होती है। पंडित मुखरमाश जी ने बहुत धीरदार चर्मों में आपन दिया था। 'जिस रोज अंग्रेज खाँसी बर सटकेना उस रोज मुझे बड़ी खुशी होगी।' मुझे इतनी बात सुन कर पचरज हुआ कि घाँसी के मौके पर भी यह घाँसीबाँध दिया जाता है? महारमा जी ने अपने थोड़े से न संयत शर्मों में बहुत धानदार घाँसीबाँध दिया था। और बाद में सुनने में आया कि कुछ लोगों ने दातूनी निपाह है। इस निपाह को धर्षण भी ठहराया था।

(घाँसी के दूसरे दिन ही महारमा जी हमें न इन को तथा और भाई-बहनों को कटीब के बपीले में विस्ती-बन्धा बिलाने में गए। उसी दिन शाम को बिना बी। हमारे बाबा को बिदाई पर एक सपष्ट सुम्मी। मीरे और सोये—दो मेल के पेड़े उन्होंने न बनाये। मीरे के पेड़ों पर बाँदी का बरक या और खूब भन्नी तरह सजा कर एक घास में इन के सामने रखा। यह वही बाँदी के बरक का पैदा खाने को हुए। खूब मजाक रहा।)

मैं जब दिल्ली पहुँची तो घर के द्वार पर ही इन की माँ यानी मेरी सास ने फूलों के द्वार पहनाए और कोहली मर गी। इन की बड़ी बहन सुम्मा ने तो बेवरात पहनाने की हठ भी की थी। उस पर महारमा जी ने कहा "जित रोज अंग्रेज बनाएना उसी रोज भगवती बिबर पहनेपी। इस भक्त कोई भी बिबर उस के बदन पर नहीं होया। तब से आज तक कोई बिबर पर कभी निपाह नहीं पाई है। उस समय इन का पूरा परिवार ही मौजूब था। महारमा जी ने अपनी बहन (इन की माँ) से कहा "भगवती उसी तरह से खेपी जैसे शास (अंग्रेज भी की भागजी) रहती है। कोई पराँ बनेरह न करेपी न होया।" मैं घर में बिस्फुल बच्चे की तरह रहने लगी थी। हमारी सास को कभी-कभी भगता थी कि वह और बेटी में कोई करक ही नहीं रहा है। पर मुन्स से वे कभी बोली नहीं। हमारी सास अत्यन्त कुशल रख और साहसी थी। उनकी व्यावहारिक सूझ-बूझ इतनी थी कि दिल्ली में पहाड़ी बीरज पर एक महिला धायम भसाती थी। इस धायम में कामार्प न बिबनार्प पहा करती थी। महारमा जी धायम की सभी लड़कियों को तथा मुझे भी बमुना जी में सीना सिखाने से जाते थे। जैसे और धायम की लड़कियाँ जाँपिया पहन कर सीरना सीबती थीं उसी तरह मैं भी सीबती थी।

पहाड़ी बीरज पर तीन कमरों का किराए का मकान था। मकान की मासफिन को यह भागी मानते थे और काफी स्नेह करते थे। उन्होंने मे मुझे भी बहुत प्यार से अपनाया। इन की प्रविष्ट कहानी 'भागी' की प्रेरणा भी रहे ✓

इन्हीं 'भाभी' से मिली थी और वहीं लिखी गई थी।

बच घासी हुई और हम यहाँ आए तो जीनेन्द्र जी की एक दुकान थी फिदाबों की। उसी पर वह बैठा करते थे। एक मुनीम इन्हीं ने दुकान पर रख रखा था। वह दुकान सन की माँ ने अपने पास जो-कुछ भी पैसा था उस को लगा कर खूबवाई थी। उस से जो कमाई होती थी उसी से घर का खर्च चलता था। घासी के बाद इन में ऐसा आनन्द रहता था कि दुकान पर जा कर कभी बैठना ही नहीं मुनीम ही दुकान पैसा करता था। उस समय घाबाबी की सहर तो बच ही रही थी। राष्ट्रीय कार्यों में वह भाग लेते रहते थे। इस से दुकान धीरे-धीरे खाल होती गई और बन्द करनी पड़ी। इस से घर का खर्च मुश्किल से ही चलता था। जैसे इन की माँ के सामने मेरे ऊपर कोई बोझ नहीं था। जैसे-जैसे की चिन्ता इन्हीं पर थी। अब तक वह रहीं जब तक घर की देख भाल वह ही करती रहीं। इन को तो अपनी जिम्मेगी में कभी घर की या बाहर की या जैसे की कभी कोई चिन्ता नहीं रहीं। सभी इन्हीं ने सिखना शुरू किया। एक-दो कहानियाँ निकलीं जो लोगों को पसन्द आई। उस के बाद इन्हीं ने 'परख' उपन्यास लिखना आरम्भ किया। मालटेन के सामने सुबह ४ १ बजे उठ कर या कभी-कभी रात में बैठ कर लिखते थे। इस के साथ मीटिंग और राष्ट्रीय कार्यों में भी भाग लेते रहते थे। ऐसे ही 'परख' पूरी हो गई। एक रोज मासूम हुआ कि 'परख' पर १० रुपये का इनाम मिला है। इन की माँ को अब यह बात मालूम हुई तो खुशी का ठिकाना न रहा। यह पर आए और माँ ने कहा 'जीनेन्द्र तुम को 'परख' पर इनाम मिला है। इन को भी आश्चर्य हुआ कि कैसा इनाम मिला है।

सन् १९१०-११ की ही बात है, महात्मा गांधी जी का सत्याग्रह आरम्भ हुआ। एक बल इन्हीं ने पन्द्रह-बीस भावमियों का बनाया। उस बल के नेता यही थे। उस समय जो नेतृत्व करता होता था वही सब से पहले सरकार की नजरों में रहता था। इस बल के निरचय किया कि वे गरीबा गाँव में जाकर नमक बनाएँगे। घर पर इन की बहनों हमारी सास और हम में इन के व बल के सभी सदस्यों को विलक किया और मालाएँ डालीं। ऊपर से हम सोप बहुत लुमी-बुखी बिदा कर रहे थे यमर घन्वर मल डाला-डोल था। गैरी उल्ल उस समय सबह साल की थी घासी हुए बड़े साल ही थीया था। गरीबा जा कर इन्हीं ने नमक बनेरह बनाया शुरू किया। हिस्ती कभी-कभी आना-जाना रहता था। गाँव-गाँव में मीटिंग करना और सरकार के खिलाफ भावना धारि देना लूट जोरों पर था। इन की माँ भी रेल-सेवा में बराबर भाग लेती थीं। मैं ने

भी उन के साथ काम करना आरम्भ कर दिया था। हुकाओं पर पिकेटिंग करना मन्दिरो में किसी को बिनामती कपड़े पहन कर न जाने देना तथा मीठिम व जलूस में भाग लेना हम लोगों के मुख्य कार्य रहते थे।

उसी समय दंगेवालों के खिलाफ एक बहुत बड़ा जलूस निकला। जलूस में यह भी शामिल हुए थे। जलूस जब कोतवाली (जौहारा) पर पहुंचा तो वहां पर पुलिस ने सब गोलियों बमार्द। यह जलूस में ही थे। इन को भी कई बमबूझोटे पड़े। बहुत से लोग घायल हो गए थे और मर भी कई गए थे। इन का तो दिन पर दिन काम बढ़ता ही गया। वहां भी कांग्रेस की कोई मीटिंग होती वहां यह सब से पहले पहुंचते। एक दिन सात साधवियों का हल बना और उस में पहना नाम इन का था। यह निश्चय हुआ कि यह बंटा-बर से भाग्य देने को कातून के खिलाफ था। यह जाने से पहले अपनी माँ से तथा हम से बोले "देखो, तुम हमारा सब सामान ठीक कर लो। भाब हमारा कोई खरेसा नहीं है कि हम घर लौटें या नहीं।" इन की बात सुन कर इन की माँ की और हमारी भाबें घर आई। मगर हिम्मत कर के इन का सब सामान हम ने एक बक्स में रख दिया। यह अपने सब साधियों के साथ बिदा हो गए। यह बंटा-बर पर भाग्य दे रहे थे। उस समय हम सात बहू बोलों उन का सामान से कर वहां पहुंच गई। एक मकान की छत से हम ने देखा कि पुलिस ने इन्हें बाकी छहों साधियों समेत निरपशर कर के पानी नाली में बिठा दिया। उस के बाद नारे नारे पर लोगों ने लगाने शुरू कर दिये और भीड़ बढ़ती ही गई और पुलिस की भावियां लाठी रखी। हम लोगों ने सामान लिया और लाया किया और इन की नाली के पीछे बस दिये। जिस समय बेल पर जा कर लाठी रखी हमारा लोना भी लमी चला। ये सब लोग भी नाली से उतरे। इन के घरे में भासाए पड़ी हुई थीं और हम लोगों को देख कर मुस्कराने लगे। इन की माँ तथा मेरी भाबों में पानी छाया। भीड़ बहुत जमा हो गई थी जो नारे पर नारे लगा रही थी। इन को व सब साधियों को पुलिस ने बन्द कर दिया और हम सब नारे लगाते ही रहे। वहां से जलूस निकल कर पहाड़ी धीरे-धीरे तक पांच मील तक पैदल ही चले आए। रोज पहाड़ी धीरे-धीरे पैदल इन के लिए बना बना कर, से कर जेल पहुंचती थी। जब तक मुकदमा शुरू नहीं हुआ तब तक रोजाना १२-२० मिनट की मुलाकात होती रही। मगर जब मुकदमा शुरू हुआ तो इन को बी'क्लास मिली और सब साधियों को 'सी' क्लास। पर इन्होंने मन्दिस्टेट से कहा कि वे इस क्लास के उपयुक्त नहीं हैं। म इतने पड़े-भिड़े हैं न सम्पन्न हैं। इसलिए इस क्लास का नाम नहीं से सकते हैं और मामूली कैदियों के साथ ही रहेंगे। पर

ली बसास इन्हें मिमी नहीं और जबर्दस्ती योरे बैरकों में इन्हें बेज दिया गया। हम  
 रोब इन से मिमने जाते थे। इन की माँ इन के नेहरे को देख कर एक हम भासों  
 भर लाठी थी। यह हमेशा हम को और उन को डाइस बेते रहते थे। फिर इन  
 को अपने शाबियों से प्रलय कर दिया गया और पंजाब की स्वेचन बैल गुजरात  
 रवाना कर दिया गया। किस बिम और किस स्टेसन से वे भेजे जायेंगे—इस  
 की जानकारी किसी को नहीं थी। बेसर हमारी सास का बहुत धावर करने  
 लगा था। उसी ने सब जानकारी थी। स्टेसन पर हम दोनों सास-बहू भी पहुँचीं।  
 पहले तो इजाजत नहीं दी पर बहुत गुजरात करने पर पाँच मिनट का समय  
 मिला। फिर गुजरात वेस से इन की चिट्ठी मुझे मिली थी। बहुत सान्त्वना की  
 बातें उस में थीं। इन के गुजरात वेस के पाँच महीने बाद ही पहला लड़का  
 दिल्ली प आया था। उसी हमारी सास ने तार दिया। और इन्हें जब बेसर ने  
 बताया कि भाई गुजरात तार दिल्ली से आया है। तो भट इन्होंने कह दिया कि  
 क्या लड़का लुभा है? बेसर को यह सुन कर आश्चर्य हुआ। इन के साथी  
 लोगों में डा० प्रसादी डा० सत्यपाल डा० सुखदेव आदि ने जिन्होंने माठा  
 ली की चिट्ठियों से कहाई भेजी थी। एक महीने बाद ही हमारी सास ने गुजरात  
 वेस के बेसर को चिट्ठी मिली और मिमने की इजाजत माँगी। पंजाब में पन्द्रह  
 मिनट का समय मिला। सब लड़कू आदि बना कर घर के पाँच-छः लोग—  
 हमारी सास हमारी लमब न उस का छोटा लड़का तथा मैं—सब मिमने के  
 लिए बस पड़े। गुजरात स्टेसन पर पाड़ी लकी और मैं नीचे उतर आई।  
 हमारी सास मनर और बच्चे सब उतर रहे थे कि बाड़ी बस पड़ी। गाड़ी दो-  
 तीन फर्मान आने निकल गई थी। सास ली ने जंजीर खींच कर बाड़ी रकवाई।  
 फिर टी० टी० से कहा कि हमारी एक महीने की बच्चा स्टेसन पर उतर गई  
 है, पाड़ी पीछे लौटाओ। टी० टी० ने कहा कि आप लोग यहाँ उतर जाइए,  
 हम आप का सामान यहाँ से पहुँचवा देंगे। मगर उन्होंने कुछ नहीं माना  
 और साधार हो कर उन्हें पाड़ी पीछे लौटावी नहीं। स्टेसन के नीचे ही एक  
 धर्मशाला में सामान रखा और वेस गए। वहाँ इन में घुमाकात हुई। दिल्ली  
 रोड में वा उसे सब लोग घरर से गए। मैं और यह पन्द्रह मिनट तक बात  
 चीत करते रहे। हम से बात तो कुछ हुई नहीं, बस रमा आता था।  
 दिल्ली पब घरर से वापस आया तो उस के घरे में भालार्, साथ में सोता  
 कुपवत्ता आदि थे ली भेंट दिए थे सब लोगों ने। हम सब तीन-चार दिन रुक  
 कर फिर वापिस आ गए।

एक वर्ष के बाद वे लूट कर आए। इस के बाद भी सराफाह और राष्ट्रीय

कार्यों में भाग लेते रहे। थोड़े दिन बाद फिर पकड़े गए। और मुसतान जेल सात महीनों के लिए भेज दिए गए।

इस के जेल जाने के बाद भी लष्करी माँ ही चलाती थी। लष्करी की बात मुझ पर नहीं आती थी। हाँ विनीप के बाद एक लड़का और हुआ था। जब वह बार-बार महीने का पा तो उसे बड़ी बेचक निकस आई थी। डा० मुठबीर सिंह के इलाज में रहा था। वह बच्चा दिन पर दिन बिरता ही गया और उसी में बस गया। इस की जेल से सामान्यता की चिट्ठी मुझे मिली थी। यह मुसतान जेल से सन् ३३ में आया था। फिर बीरे बीरे लिखने की तरफ कुछ ध्यान देने लगे थे।

सन् ३३ ३४ में एक बड़ी कान्फेंस हुई थी। प्रेमचन्द भी उस कान्फेंस में आए थे। एक रोज रात को प्रेमचन्द भी को बस बने के करीब घर पर यह लाए और उन्होंने माँ से कहा 'माँ बाबू जी (प्रेमचन्द) आए हैं और भी बार पांच लोग हैं, सब सोय सभी जाना जाएँ।' हमारी माँ ने हँस कर कहा 'बेटा सभी जाना तैयार हो जाता है।' हमारे बसपुर, महात्मा भी प्रेमचन्द की और सब सोय बाहर के कमरे में बाँटें करते रहे और प्रेमचन्द की की दुली हुई जाना बताते समय हमारे कानों में गूँज रही थी। क्या मुक्त जन की दुली थी? हमारी सास ने जाने के बाद प्रेमचन्द की से कहा "यह आप की बहू है।" मैं ने उन के पीर छुए और उन्होंने ने मुझे अपने करीब ही बिठा लिया।

सन् ३७ में १५ दिसम्बर में मकान लिया था। इसी मकान में ही प्रेमचन्द की ब चित्रपत्ती देखी आई थी। महारमा भी भी यहीं थे। पूरा बहल-पहल रहती थी। होसी के दिन वे यहीं पर थे। बहुत से लोग होसी खेलने गये और ग्रामान गया था। उन की वह बड़ी-बड़ी मूँछें और हँसता हुआ चेहरा हमारा से खिल रहा था। इस-बारह रोज तक वे यहाँ रहे थे। बाद में बनारस से चिट्ठी आई कि प्रेमचन्द की बीमार हैं, उन्हें जसोदर हो गया है। 'हँस' वम उस समय निकला करता था। उस पत्र को सम्मानने के लिये बाबू जी इन्हें चाहते थे। इन्होंने मुझ से कहा "बार पाँच महीने के लिए मुझे जाना पड़ेगा। तुम यहाँ धकैली करें रह सकती हो।" तभी ७/१६ दिसम्बर का मकान लिया गया। उस समय मकान में बिजली नहीं थी। टिप के बरबाने तक बज दिए गए थे। तब से अब तक उसी मकान में रहते आए हैं। दिसम्बर तो करीब १२ साल तक नहीं आई थी। सप्त पवित्रों में एक रोज रात के आठ बजे के करीब किसी ने बरबाना लटकाया। हम दोनों की चारपाई नीचे छोटे से धावन में बिछी हुई थी। मैं सासटेन से कर भीने की तरफ बीड़ी।

देखा वहाँ साहू धातिप्रसाव भी सड़े हुए हैं। गर्मी काफी तेज थी। वे चारपाई पर बैठ गये। हाथ का पंखा मेरे हाथ में था। मैं पंखा कर रही थी। वे बोले "नहीं भाभी कोई यमी नहीं लग रही है।"

इन के पास तो हमेशा ही बमबट लगा रहता था। प्रभाकर माचवे भारत घुपण घणवान मैमिचन्द्र जैन कीपत श्रीर भवक समो इसी छोटे से मकान में चौकड़ी जमाया करते थे। प्रभाकर माचवे भस्तर यही घाते थे। 'जैनेन्द्र के विचार' किताब यहीं मिली गई थी। हमारे साथ बहुत खुस तबीयत से बातें करते थे। योजना कुछ न कुछ जाने के लिए गई थीयों के लिए बिद रहती थी। मेरे साथ ही यह सोप चौके में बैठ कर खाना बनवाते थे। बिजली भी नहीं। मे सोप लावटेन से कर इचर-उचर घुमते रहते थे। साथ यह सोग बिस्की घाते हैं श्रीर कुछ तो रहते ही यही हैं। पर कभी बर घाते ही नहीं। एक वह समय था कि छोटे से कमरे में सब के सब बमबट जमाये रहते थे। चारों तरफ से भाभी भाभी की ही पुकार आती थी। बात्स्यायन हमेशा इसी बर में ठहरते थे। उन की बहुत इन्तुमटी यपों तक इस बर में रही है। इन्तु से छोटी बहुत जैसा प्यार रहा है। जैनेन्द्र की बात्स्यायन को बहुत चाहते थे। पच्छी बैठ कर ये दोनों भाई बम कर जर्जी करते थे। साथ बैठ कर खाना-पीना रहता-सहता। बहुत-बहुत स्नेह इन को था। मुझे भी वे भाभी का आबर देते थे। मैं बात्स्यायन की को सवे देबर से भी व्यावा मानती थी।



सिवारामधरण व छोटे भाई बाबुसिखाधरण यहीं ठहरते थे। भाई साहब हमारे बर के प्रति जमाव स्नेह रखते थे। इन्हें तो वह घपना भाई ही मानते थे। वह बिस्त्रुन बर में सुख-नमन घाते थे। वे बहुत ही बम्बीर प्रादमी थे। कितनी भी तकलीफ रहती थी वे हमेशा खुस नजर घाते थे। जब तक वह यहाँ रहते थे मेरी तारीफ ही करते रहते थे। बर की पूर्ण स्थिति से वे बाकिष्ठ थे। एक बार वैसे ही उन के सामने मन उघास हो घाया तो वे बोले "इतने दिन प्राप मैं तकलीफ से काट लिए हैं जब तो घाने सुख ही सुख है।" हमेशा जन का प्यार इन से बना रहा। जब भी वे बिस्की घाते बर पर घबराय घात थे। मैमिनीधरण भी भी कई बार खाने पर घाते थे। जब वे बिस्की होते तो जोन कर के हम सभी को बुला लेते थे। खुब स्नेह हमें उन का मिला है। एक जरा स समय में ही वे पूरे परिवार की तारी जानकारी से लेते थे। उन को हमारे बड़े बड़े दिलीप से बहुत प्यार था। हमेशा उस की बातें करते रहते थे। एक बार हम दोनों चिरयाव गये। तीन रोज तक वहाँ ठहरना हुआ। उस

घर में सारा परिवार कितने प्रेम से रहता दिखाई दिया। सुबह जिस वक्त नाश्ता होता था, उस भिन्न की स्निग्धता और भाईता भनी तक बनी हुई है। एक मही पर मैमिस्लीकरण भी बैठे हुए थे। चारों तरफ सारा परिवार और बच्चे बैठे हुए थे। बीच में बाल सारा हुआ पकौड़ियों का भा गया। सब बच्चों को हँस-हँस कर कह रहे हैं "भरे मई, बाभो। बहुत बढ़िया बनी है।" भगवती यह देखो यह पकौड़ी बहुत बढ़िया बनी है। एक धीर लो—एक धीर लो। भरे मैमिस्ली तुम भी बाभो मई।' हम ने जितना प्यार उस घर में देखा है, कहीं देखने को नहीं मिला। बाहर के भावमियों से कितना स्नेह व प्यार किया जाता था कि कभी यह सगला ही नहीं था कि कहीं धीर हैं। मैमिस्लीकरण सियाचम घरम भी धीर इन में बूब स्नेह धीर साबर भाव था। बच्चे-बच्चे परिवार की बेस की साहित्य की—पता नहीं क्या-क्या बर्बाद करते थे।

○ ○ ○

माँ का देहांत सन् १५ क प्रन्त में हुआ था। उन्हें भी बसोबर हो गया था। माँ के मरने के बाद सारा बोम्ब घर का मेरे ऊपर धा गया। जब वे मई में एक लड़का (बिलीप) धीर एक लड़की (कुसुम) तथा दो हम चार बने थे। वैसे की हालत हमेशा बिकरत की रही है क्योंकि कोई काम तो यह करते नहीं थे। लिखने से ही जो पैसा आता था उसी में घर का खर्च चसता था। दिन पर दिन घर का बोम्ब बढ़ता चला गया। वैसे की हालत बँसी ही रही। जब मैं इन को कुछ कहती वैसे के बारे में तो यह चुप रहते, कोई बचाव न देते थे। मुझे धीर भी गुस्सा आता था। समझ में नहीं आता था कि क्या करूँ? कभी-कभी तो मन में बहुत सी बातें आती रूँती फिर अपने को ही समझाती कि हिम्मत से ही काम लेना चाहिये। इन में आसत्य इतना रहा है कि कभी सोचते कि मैं बिस्कुल नियम से कमाऊँगा। हम ने आदमी रखा सिखाने के लिए। आदमी सिखाने के लिए आता धीर धाप सोते ही रहते। मुझे यह सब देख कर बेहद तकलीफ होती। मैं इन से कहती, 'क्या बात है कि घर का कोई बोम्ब तुम्हारे ऊपर नहीं है, फिर भी धाप कोई काम काज नहीं करते।' तो मुँहला कर कहते "मैं वैसे के लिए नहीं लिखता हूँ। अगर तुम चाहो तो मैं नीकरी कर लूँगा।" इस से माये कुछ कहना बाकी नहीं रह जाता। जब धापस में इस बात को ले कर गुस्सा उठर आता तो कहते "भगवती क्यों छिडकर करती हो। कभी धाप तक हम लोग मूँचे तो रहे नहीं। धीर अपने से नीचे देखो कितने सोच रहते हैं जिम को खाने को रोटी नहीं मिलती है।"

उन के यह राज्य चुप कर गुस्सा सब समय के लिए खत्म हो जाता। फिर



बाद में भी कहती अपने लिए नहीं चाहिए, मगर बच्चों के लिए तो चाहिए। बच्चों को पढ़ाना है सिखाना है।” यह कहते धरे गई, सब हो जाएगा। क्यों बिम्बा करती हो ?”

दिन पर दिन बच्चे बढ़ते होते गए धीर पढ़ाई उन की शुरू हो गई। बर्च बढ़ते ही गए। बाद में परिवार भी बढ़ता ही गया। एक लड़का (प्रवीण) धीर को लड़की (सुमुख तथा कमल) परिवार में आ गए थे। सब बच्चों की पढ़ाई शुरू हो गई। जब बड़ी लड़की ने एम० ए० करके लॉकर किया धीर में इन से कहा करती थी “मई तुम फिर नहीं करते हो बड़ी लड़की समझी हो गई है, पता हमारे पास है नहीं। क्या होगा ?” यह सुनकर चुप रह जाते। कहते “फिर क्यों करती हो जब होने वाला होगा तो अपने धाप हो जाएगा।

बिना दिनों कुसुम के लॉ का पेपर हो रहा था जहाँ दिनों एक रिश्ता उस के लिए था धीर बोलीन दिनों के अन्दर ही अन्दर सब ती हो गया। धीर की तारीख भी निश्चित हो गई। तो मुझ को भी लगा कि ऐसा हमारे पास अभी नहीं था जब यह देखो कि किस्मत ही बड़ी है। इन्हीं का कहना ठीक निकला कि भगवान भरोसे रहो सब ठीक हो जाएगा।

बाद में धीर दोनों लड़कियों को भी पढ़ा-सिखा कर के उनका भी रिश्ता अपने धाप ही हो गया। तीनों लड़कियाँ अपने घर बहुत खुश हैं। जब यह मुझ से कहते हैं “तुम पैसा-पैसा कहती हो देखो हमारी किस्मत कितनी अच्छी है कि तीनों लड़कियाँ कितने अच्छे घर में गईं।

कभी-कभी मुझे इन की बातें अच्छी तो लगती हैं पर घर तो मुझे ही संभालना पड़ता है बिना पैसों के तो कोई जीव घाती है। नहीं धीर इन की झलक तो यह है कि कभी उस बारे में सोचते ही नहीं। जिस वक्त मुझे दुस्ता घाता मैं खूब बह-सुन जाती धीर यह बस चुप्पी साध जाते। चुपचाप उठ कर आफिस में जाते। मैं सोचती कि वहाँ जा कर कुछ सिखा रहे होंगे। मोड़ी बेर में आफिस में टैलीफोन करती तो मामूम होता कि यह तो सो रहे हैं। फिर मन में आता कि क्या किया जाए ? दुस्ता करने से भी इन के मन पर कुछ घसर ही नहीं होता तो क्या क्या जाए ?

घाप की घर आते धीर यह भी देखते कि घर-बनैरह सब साफ है, कपड़े धुल गए हैं धीर खाना बन रहा है। तो कहते “कूज खाने को है ?”

मैं पहले तो एक-दो बार जवाब नहीं देती। मन में नाराजगी तो रहती ही। फिर यह कहते “धरे गई, कूज खाने को हो तो सो।”

मैं कुछ जवाब न दे कर जो कुछ भी होता उन के सामने रख देती।

जब इंग्लैंड जाने लगे तो इन का जर्नल तो सरकार ने लिया। जब बर का हास तो जैसा था वैसा था ही। आफिस का काम बड़ा सड़का (बिलीप) संभासता था। वहाँ से जा कर इन्होंने बिलीप को पिट्टी सिखी कि बेरा तुम बर में पंसे का ब्यास रखना। और एक पिट्टी मेरे पास भी आई। उस में सिखा था कि मैं यहाँ बहुत धारम से हूँ और बहुत बड़े होटल में ठहरा हूँ। तुम्हारी भाव मुझे बराबर आती है और सोचता हूँ कि तुमको मेरी बगल से बहुत तकलीफें बरबारात करनी पड़ती हैं। तुम्हीं इतनी बहादुर हो कि जो अपने बर को मुझ को और बच्चों को समझे पड़ती हो। भविष्य (मगबती) वैसा कोई चीज नहीं है। सचाई सब से बड़ी चीज है। इसी में से वैसा अपने आप निकलता जाएगा।

आज मैं यह सब बातें सोचती हूँ तो समझ में आता है कि जो वह कहते हैं, है तो ठीक ही। वह जब इंग्लैंड से वापिस आए तो इन की तन्मुखस्ती बहुत घण्टी हो गई थी। पर, आते ही इनको पीलिया हो गया। चार महीने तक चारपाई पर ही रहे, और किसी डाक्टर की बगल इन्होंने न ली। अपने ही खान-पीने का ठीक रखा और ज़रा से धीरे-धीरे घण्टे होते चले गए। जब रात को मुझे जागना पड़ता था तो मुझ से कहते 'तुम को मैं ने बहुत तकलीफें दी कभी कोई धारम तो मैं ने बिना ही नहीं।' मैं इन बातों की परवाह न कर के जो मेरा काम होता करती जाती गई। इन का साम्प्रदायिक अब भी वैसा का वैसा ही बना हुआ है।

एक रोज प्रभाकर भाबने आए। उस समय मैं खाना बना रही थी। कहने लगे 'भाभी, बुनिया बरबस गई है। तुम्हारा बर और तुम नहीं बरबनी हो।'

मैं ने कहा 'अरे भई, अब क्या बरबना है।'

## उपवास नहीं, दूध मलाइें

—कविराज रमणीतप्रसाद जैन

जमवरी १९३७ का प्रातःकाल सुबह ६ १० बजे। १३ बरियार्बन्ध की एक कोठी के बरामदे में बड़ी-सी बटाई बिछी है। सामने से सुन्दर धूप आ रही है। बटाई पर बोड़े-बोड़े व्यवधान से स्व० प्रेमचंद जी उनकी पत्नी श्रीमती शिव रानी और श्री जैनेन्द्रजीभार बैठे हैं। पास ही कुछ पीछे स्व० महारमा मन्वान धीन भी बिराजमान हैं।

जैनेन्द्र जी को खांसी है। मामूली नहीं खोर की चर्चकर खांसी है। ज्वर बहुत मामूली है।

जैनेन्द्र जी खांसे आ रहे हैं। खांसे जा रहे हैं। कुछ बोलना चाहते हैं पर खांसी है कि बस बुझने ही नहीं देती है। बड़ी मुश्किल से बस साज कर कुछ कहना सुरू किया—

“उपवास को कई दिन हो गए हैं। खांसी में कोई लाभ नहीं हुआ। प्राकृतिक चिकित्सा बस रही है। महात्मा जी का कहना है कि उपवास से वह अपने बने पर काबू पाते हैं तो मेरी खांसी भी उसी क्रिया से ठीक होनी चाहिए।”

घोठों के सामने मुट्ठी लगा कर खांसते हैं। और पुनः बोलना प्रारम्भ करते हैं—

“कई दिनों से रात को नींद भी नहीं है। बाबू जी आज रात मुझे एक पिता मन्त्रि प्राप्त हुई है। मुझे समझता है यह खांसी और बम्ब की सड़ाई है। बम्ब को बाहर निकालने को यह हुई है। जो धनाधार से शरीर में एकत्र हुआ है उस बम्ब को बाहर निकालने में यह प्रयत्नशील है।” खांसते हैं।

बरामदे के एक कमरे पर बनारसी पानों का पिटाया रखा हुआ है। उस में से शिवरानी जी पान बना कर स्व० प्रेमचंद जी को देती हैं। पान खाते हुए सस्मित मुद्रा में वह बोलते हैं—“मई जैनेन्द्र, बात तो तुम ने पते की पाई है। बितरक हो बितावधि मत्ता क्यों न पाओगे। लेकिन इस उपवास से बम्ब की हत्या करना चाहते हो न ऐसा न करो। जैसे प्यार से बीसो। खांसी को कुछ ठर मास बिताओ। तुम देखोगे कि वह अपने में स्नेह की शक्ति पाकर इस बम्ब

को बिजय करेगी।”

वो साहित्य-मनीषियों की परस्पर बातों को स्व० महात्मा जी भी सुन रहे थे। स्व० प्रेयचंद जी के तर्कों को सुन कर महात्मा जी तनिक मुस्कराए। बोले—  
“तब क्या करना चाहिए? उपवास में तो पानी नींदू-पानी ननक-पानी फलों का रस चलता है। इसी से रोग-निवारण होना चाहिए।”

“ठीक है घापकी बात” प्रेयचन्द जी बोले पर उपवास का प्रतिरोध क्या म्मायकर होना? इस खाँसी को भी छल्लि चाहिए। उसे स्नेह की छल्लि चाहिए। उपवास को इस विधि से उसे रस छल्लि की ही प्राप्ति हो सकती है। घाप दूध मलाई चित्पाइये इस खाँसी को। और देखिए कि वह पुष्ट हो कर शरीर में एकत्र वाय को फिटनी धीमता से निकाल बाहर करती है।”

दूध-मलाई की बात सुन कर जैनेन्द्र जी न हँस कर महात्मा जी की ओर प्रश्न करी दृष्टि डाली।

“जहाँ जैनेन्द्र बवा कहते हैं” महात्मा जी ने कहा “बाहो तो घाव से उपवास खाम। मलाई और मिथी खाकर उपवास तोहो।”

सही दिन से मलाई-मिथी का प्रयोग धारम्भ हुआ। सुबह घाम घाव घाव पाव मलाई ही खाने लयी।

कहना न होना कि इस प्रयोग से ३४ दिन की चबचि में ही खाँसी में पारचर्यजनक खाम हुआ। मलाई की स्निग्धता और मिथी की मधुरता से पुष्ट हो कर वह शरीर के शोष को लेकर न जाने कहाँ विरोहित हो गई।



मूल्यांकन



## हिन्दी में जैनेन्द्रकुमार दो नहीं हैं

—श्री 'अज्ञेय'

श्री जैनेन्द्रकुमार या उन के व्यक्तित्व के विषय में कुछ मिलना घासान नहीं है। उन की निजी प्रकृति भी अत्यन्त असम्यक् भरी है और उन के सेवान में भी अद्विष्टता है। दोनों की सतही सरसता वास्तव में एक आवरण है जो इस असम्यक् को छिपाए रखती है। वास्तव में ऐसा है यह निजी परिचय से अथवा उन की रचनाएँ पढ़ने ॥ बमस' स्पष्टतर होता जाता है। लेकिन उस का प्रसार कम बीज उन का प्रवचन सुनने में होता है। उन के प्रवचन सुनने में बहुत अच्छे लगते हैं और बड़े प्रभावोत्पादक होते हैं। कम से कम मुझे तो जब-जब उन की बात सुनने का अवसर मिला है मैं उस की विलक्षणता और बारीकी से अभिभूत हो गया हूँ। वाक्यरूप का और सव्याय की बारीकी का इतना प्रभावशाली उपयोग आधुनिक हिन्दी में अल्पम कम ही मिलेगा।

किन्तु जिस असम्यक् की बात मैं कह रहा हूँ वह जब अपने ठोस रूप में सामने आ जाता है जब प्रवचन सुनने के बाद अन्त में हम अपने धाप से यह प्रश्न करते हैं कि बक्ता ने आखिर कहा क्या? और अगर किसी बिबादस्पद विषय की चर्चा भी तो उन्होंने ने कौन-सा पक्ष लिया अथवा उनकी प्रतिज्ञा क्या थी? याद ही कभी इस प्रश्न का सीधा-स्पष्ट उत्तर मिलता हो। अन्त में हम इनी परिणाम के साथ रह जाते हैं कि जैनेन्द्रकुमार हमारे सम्मुख आए और जब तक सम्मुख रहे जैनेन्द्रकुमार रहे और जब सामने से हट गए, तब हम ने जाना कि अब जैनेन्द्रकुमार हमारे सामने नहीं हैं। जैनेन्द्र जी स्वयं इस बात को न जानते हों ऐसा भी मुझे नहीं लगता। मेरा विश्वास है—और इस विश्वास पर मैं सच्चे अनुभव के साथ पहुँचा हूँ—कि जैनेन्द्र जी अच्छी तरह जानते हैं कि उन का क्या प्रभाव पड़ता है और इस के लिए प्रयत्नशील भी रहते हैं कि वह प्रभाव पड़े यानी वह जो है जान-बूझ कर है ऐसा नहीं कि बीसे रचे गए थे इसलिए है। यानी यह व्यक्तित्व नैतिक नहीं उपाजित है।



मैं कहूँ कि उन के धार्मिक-साहित्य का—उपन्यास और कहानी का—चिन्तन भी इस प्रवृत्ति और इस परिस्थिति का उदाहरण है—उस में भी अति कार्यवश एक सतही आधुनिकता है और सतह के नीचे अनेक बारीकियों का समन्वय। जैनग्रन्थों की अपने-से-संसार में अथवा अन्तर्गत में बराबर इस से इनकार करते हैं और कहते हैं कि यह चिन्तन के बारे में जानते ही नहीं। सतर्क चिन्तनी होने की बात तो दूर। लेकिन सचार्थ यह है कि आज के हिन्दी धार्मिक-साहित्यकारों और विशेषतया कहानीकारों में सब से अधिक 'टेक्नीकल' नहीं है। टेक्नीक उन की प्रत्येक कहानी की ओर (पहले उपन्यास को एक सीमा तक उपजाव मान कर) सभी उपन्यासों की आधार-विधा है। यह नहीं है कि ऐसा मैं उनके कृतित्व के प्रति अवहेलना के भाव से कह रहा हूँ बल्कि मेरी दृष्टि में यह प्रशंसा का विषय है। मैं जानता हूँ कि अब तक भी कई नए कहानी-लेखक व्यक्ति और युग परिवर्तन के अपने-बापों के बाबजूद गिरे चिन्तन के क्षेत्र में जैनग्रन्थकार से बहुत कुछ सीख सकते हैं।

मैं तो यहाँ से जैनग्रन्थों का आधी हूँ। मेरी पहली कहानियों का प्रकाशन उन की मध्यस्थता में हुआ इतना ही नहीं मेरा 'साहित्यिक' नाम भी उन्हीं का दिया हुआ है। यह ठीक है कि मैं स्वच्छ से यह नाम कभी नहीं चुनता—और यह भी सम्भव है कि आज के अनेक जैनग्रन्थों की भी मुझे यह नाम न देते। यह तो संयोग का कि जिस से बोरी से बाहर भेजी गई मेरी कहानियों की कापी उन्हें एक दिन के उन दिनों दिखाई जिन दिनों जैनग्रन्थकार को यह विशेषण (अर्थात्) दिया या क्योंकि जो कुछ भी संभव है उस का आकर्षण उन के लिए प्रबल था। (कहा जा सकता है कि जैनग्रन्थों की उन दिनों की मानसिक स्थिति का बिना धन्य एक लघु वाक्य द्वारा सीखना हो तो वह वाक्य होना 'ओ तु सत्ये।'—ओ धर्मग्रन्थ और भी संक्षिप्त हो कर हो गया 'ओ तु !') मेरी उस कापी में वे दो कहानियाँ जैनग्रन्थों में स्व० श्री प्रेमचन्द को भेजी थीं जिस में से एक उन के द्वारा सम्पादित 'आमरण' में छपी थी। (उस कहानी को स्वीकार करते समय प्रेमचन्द जी ने अनुमान नहीं किया था कि जैनग्रन्थों में ही अपनी रचना एक नए छद्म-नाम से भेजी है।)

जैनग्रन्थों का आधी मैं इसलिए भी हूँ कि मेरे जैन से आ जाने के बाद हमारे धार्मिक पत्र-व्यवहार में वह प्रायः मेरे मैकन और मेरे विचारों की कड़ी आलोचना किया करते थे। अधिकतर उन से मैं सहमत था भी नहीं हो पाता था और अब भी नहीं हो पाता, किन्तु उन की आलोचनाओं की तीव्रता क्योंकि मेरे प्रति एक सहज धार्मिकता ही प्रभावित करती थी इसलिए मैं उन से

नाम भी उठा सकता था ।

हिन्दी में जैनश्रुतकार को नहीं है । जो एक जैनश्रुतकार हमारे मध्य में है वह अभी पीढ़ियों तक हमारे मध्य में रहें और अपने व्यक्तित्व और कृतित्व की सम्पुष्टता के लक्ष्योन्मुख से हमें कृतार्थ करते रहें पठि-पूति के पुनीत अवसर पर इसी कामना के साथ उन का अभिनन्दन करता हूँ । (उन की भाषा की वह ज्ञापता उन के विचारों की वह बारीकी और वह युधीनापन और उन के चिन्त की वह सफ़ाई, उन की रचना-श्रमिया में सज्जित होने वाला वह कौशल और हस्त-लाभ—सभी की अभी हिन्दी को—हिन्दी भाषा को भी और साहित्य को भी—आवश्यकता है ।)

## जीवन धर्मो उपन्यासकार जैनेन्द्र

—डा० रामरतन भट्टभागर

एक के बाद एक जैनेन्द्र ने आठ उपन्यास हमें दिए हैं। 'उपोसृमि' को हम छोड़ देते हैं और 'अनाम स्वामी' अभी अपूर्ण ही सामने आया है। ये उपन्यास जैनेन्द्र के कथा-जगत के महर्षाण भी नहीं हैं क्योंकि उन की कहानियों में उन समस्याओं को तथा और भी अनेक समस्याओं को उठाया गया है जो बुद्धिमान और सामर्थ्य रहने पर उपन्यास भी बन सकती थीं। यही नहीं, जैनेन्द्र का विचारक निबन्धों, बातोंओं और टिप्पणियों में भी उन कुछ मूल प्रश्नों पर विचार करता रहा है जो इन उपन्यासों में गये हैं। इस जीवन-व्यापी कृतित्व की भूमिका में ही हमें उन की स्पष्ट रचनाओं को देखना होगा और उन के पूर्वापर सम्बन्ध का निर्वाह करते हुए भी उन के सामाजिक कथाकार पर दृष्टि केन्द्रित रखनी होगी।

क्या जैनेन्द्र की इन रचनाओं के पीछे कोई कम-विकासारमक मुचिन्तन है? वह जीवन के पीछे पीछे हैं या विचार के? उन की रचनाओं में वस्तु-स्थिति का चित्रण है या सम्भावनाओं का? वह मनोवैज्ञानिक कथाकार है या सामाजिक कथाकार या वैचारिक कथाकार? यदि हम इन रचनाओं में कोई प्रांतरिक व्यवस्था और सुनिश्चित चेतना या सकें तो क्या हम उन के सत्य की प्रांच को धेनने के लिए तैयार हैं? साहित्य का धर्म न जीवन के धर्म से बच सकता है न उसे संश्लिष्ट कर सकता है। हम जैनेन्द्र जैसे मूलबद्ध चिंतक से यह आशा नहीं कर सकते कि वह व्यवस्थित को निरंकुश छोड़ कर अराजकता पैदा करेगा या अमरकार-सिद्धि पर टिक कर बिरफोटक बन जाएगा। अपने काम-साहित्य में जैनेन्द्र ने बुद्धि को निरंतर हराया है परन्तु वह कहीं भी पक्षीयिक नहीं हुए हैं। बुद्धि पर टिक कर ही वह उस की असमर्थता को अतिरार्थ करते हैं।

दर्शन, अध्यात्म, धर्म, समाज—ये जीवन के बाहर नहीं हैं और जैनेन्द्र इन में घूरे-घूरे रहे हैं। फिर हम उन से किस स्वतंत्र साहित्य धर्म का पाग्रह करते हैं? या मनोविज्ञान या रस की सीमा मात्र में सिमट जाए। जैनेन्द्र जीवन

धर्म कलाकार है और उन की कला सामाजिक और सर्वव्यापी है। यतः उन को हम न रोमांस का बंधन दे सकते हैं न घादरों का न यथार्थ का क्योंकि जीवन इन सब को समेट कर भी इन से ऊपर है। होने में ही उस की सार्वकला नहीं है, कुछ घामे बढ़ कर बनने में भी उसकी सार्वकला है। इसीलिए वास्तव-प्रवास्तव का प्रश्न भी उन के साहित्य में नहीं छठ्या।

### ‘परत’

जीनेन्द्र के पहले उपन्यास ‘परत’ (१८२६) में ही हमें उन के विचारक रूप का आभास हो जाता है, यद्यपि कथा-प्रवाह और कई भाषा-संज्ञों के बलकार में हम उन महत्त्वपूर्ण प्रश्नों को छीम ही चुन जाते हैं जो पृष्ठभूमि में झांक रहे हैं। पहली बात तो यह है कि जीनेन्द्र जीवन के केन्द्र में स्त्री को रख बैठे हैं और अद्भुत कह जाते हैं कि धर्म स्त्री पर टिका है, सम्प्रदाय स्त्री पर निर्भर है। उन के शब्द हैं—“पुरुष कुछ नहीं बनाता-बिगाड़ता, जो कुछ बनाती और बिगाड़ती है स्त्री ही। स्त्री ही व्यक्ति को बनाती है, परको, कुटुम्ब को बनाती है जाति और देश को भी, मैं कहता हूँ स्त्री ही बनाती है। फिर उन्हें बिगाड़ती भी बही है। धान्य भी बही और जलह भी, हराय भी और उबाड़ भी दूध भी और लह भी और फिर घाघ को मरम्मत और खेचता भी—सब कुछ स्त्री ही बनाती है। धर्म स्त्री पर टिका है सम्प्रदाय स्त्री पर निर्भर है और केंद्र की जड़ भी बही है। एक शब्द में कहें—पुनिया स्त्री पर टिकी है। जो धर्मों से वैलत हैं चुपचाप इस तथ्य को स्वीकार कर बुकके बैठे रहते हैं, ग्यारा चूं नहीं करते। जिस के धर्मों नहीं हैं धर्मों या न धर्मों हमारी बता से।”

✓ परन्तु स्त्री की यह प्रमुखता अपने में यों ही नहीं है। वह प्रेम और विवाह के प्रश्नों को ल कर है, क्योंकि यही जीवन के अधिकार्य क्षण को घेरते हैं, परन्तु प्रेम और विवाह में से यदि किसी एक को चुनना पड़ जाए तो घादमी क्या करे? वह प्रेम का चुने या विवाह को? इन्ह की स्थिति यहीं से शुरू होती है। एक प्रश्न्य दूटेगा—प्रेम या विवाह क्योंकि दोनों को ले कर चलने वाले सीमाप्य घाली कम ही होये। फिर यह भी तो सम्भव है कि प्रेम घर के बाहर से भीतर भा कर विवाह पर चोट करे और घरों ही टूट जाए। कौन दूटेगा पति या पत्नी? या दाम्पत्य की गाँठ हतनी बूड़ रहेगी कि बाहर से माने जाता प्रेम पला यम कर जाएगा? परन्तु यदि वह प्रेम दो-तरफा है तो कूछन-कूछ संकट तो उपस्थित ही होगा। इस प्रकार प्रेम और विवाह की समस्या जीनेन्द्र के उपन्यासों की प्रमुख समस्या बन जाती है। | १८

## नियतिवाद

इस तरह चल कर विवाह के माध्यम से समाज घाता है और समाज हमें बानी कालबद्ध मनमोहता को चुका कर किसी और भी सुख और ससक्त मूल्य धार की ओर इतिष्ठ कर देता है—नियति या ईश्वर या क्या ? (जैनस्य धर्मनी रचनाओं की परिचयि इसी नियतिवाद या ईश्वरवाद में करते हैं—और स्पष्ट ही यह समस्या का कोई समाधान नहीं है) उस से न व्यक्ति सार्थक होता है, न समाज परन्तु समझीते और समाधान हमें मिल जाते हैं। इस 'ईश्वर' को बीच में ला कर धीपम्यासिक कला की दृष्टि से जैनस्य प्रबुद्ध बन गए हैं। उन्होंने न बुद्धि को हटा दिया है और मनोविज्ञान को पीछे डाल दिया है परन्तु विचारक कथाकार के लिए, कोई तो आधार चाहिए, जिस पर टिक कर वह घटनाओं और पात्रों को संभाल सके। जैनस्य की टेक है नियति या प्रमाणा। दोनों एक हैं क्योंकि दोनों प्रबुद्ध और अतिम हैं और उन पर मनुष्य का कोई बल नहीं चलता। )

'परस' में इस समस्या का क्या हल है ? सत्य समाज से समझीता कर देता है प्रेम को छोड़ कर वह विवाह पर टिक जाता है और बरिमा उस की हो जाती है। वह समाज का सम्मान और सफल सत्य बनता है। उमर कटो और बिहारी विवाह के स्वाम पर अतिप्रसन्न प्रेम—प्रेमनिष्ठ कथ—का मार्ग चुनते हैं। यों समाज भी बना रहता है और प्रेम की समस्या भी सुलभ जाती है, क्योंकि समाज को इस में कोई दिवा नहीं है कि उस को स्वीकार कर दिया गया और चुपचाप उससे बाहर बसा गया है।

## / 'सुनीता'

धर्मनी दूसरी रचना 'सुनीता' (१९३९) में जैनस्य प्रेम और विवाह के इस हल को और भी गहरा कर देते हैं, क्योंकि प्रेम यहाँ पूर्णरूपी नहीं है विवाह में उस की परिचयि नहीं होती। वह विवाह (व्यापार्य जीवन) के प्रति चुनीटी के रूप में सामने आया है। जैनस्य ने सुनीता के विरस व्यापार्य जीवन की तीव्रता को उभार कर इस चुनीटी की उपयुक्त भूमिका भी दे दी है। प्रश्न यह कि घर-बाहर में कीन जीवता है। प्रेमीत्व की घोषा से अलंकृत गारी घर में रह जाती है या गारीत्व की दीप-छिटा बन कर घर से बाहर समाज में आ जाती है ? घर दूटता है या घर की बीचाटी से टकरा कर 'बाहर' बाहर ही रह जाता है।

'सुनीता' में घर बना ही नहीं रहता है और भी मुड़ड़ हो जाता है। परन्तु

इस का क्या भरोसा कि उस पर फिर आक्रमण नहीं होगा और फिर दूटने की समस्या बँठ खड़ी नहीं होगी? 'मुखर' और 'बिबल' (१९४६) में जैनेन्द्र ने इस समस्या को फिर सिखा है और धर को ठोका है। एक में पत्नी दूटी है दूसरे में पति। इस प्रकार के ये तीनों उपन्यास एक ही प्रश्न के तीन समाधान प्रस्तुत करते हैं।

### ‘त्यागपत्र’

कास क्रम से ‘सुनीता’ के बाद ‘त्यागपत्र’ (१९३२) का प्रकाशन हुआ। इन में दूटे हुए घर की समस्या है। घर-बाहर की कोई समस्या नहीं है क्योंकि घर एक तरह से बना ही नहीं है या बनते-बनते रह गया है। वास्तव में ‘त्यागपत्र’ समस्यामूलक नहीं है, क्योंकि जो समस्या थी वह भ्रूण की मृत्यु से (बलिवान से) हल हो गई है। यह गई है क्योंकि, जो मंत्रीने पीछे जाकर सर एम० बयल से त्यागपत्र दिलावादी है। इसी भ्रूण मृत्यु में भोला और बली गई, परन्तु भोगने से क्या कोई कुछ खाता है? इसीलिए भ्रूण की कथा दोष हो कर भी निरुपेय नहीं हुई है। ‘त्यागपत्र’ ने सारे हिन्दु-समाज को ही अवाक्य में लड़ा कर दिया है समस्या यह है तो गहरी है, प्रजाति पाप-पुण्य की है— कि भ्रूण (भ्रूण) पापी है या नहीं? कर्मकार ने जतनी ही कथा दी है, बिल्ली मत्तीने की प्राचीन ने देखी, या उस ने अनुमानित की, दोष भ्रूण जाने या भगवान् क्योंकि इन उपन्यास में कर्मकार सर्वदृष्टि का बोला उत्तर कर कथा के उत्तरदायित्व से मुक्त हो जाता है। कहाँ तक सर एम० बयल का सम्बन्ध है, उपन्यास की कहानी उन की धारम-श्रवण की कहानी है, परन्तु उन की धारम प्रवचन उन की कथा बन सकती है वह समाज की भावना का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकती। ‘त्यागपत्र’ धीरे-धीरे ने भ्रूण को पीछे धात दिया है, परन्तु ध्येय नहीं है।)

‘त्यागपत्र’ की नायिका भ्रूण विवाह से दूट कर घर के बाहर खड़ी हो गई है, परन्तु समाज पति-परित्यक्ता भारी को कैसे स्वीकार करे? वह उसे पवित्र मानता है और उपन्यासकार को भ्रूण का पक्ष ले कर समाज की इस मान्यता पर आघात करता पड़ता है। सर एम० बयल के त्यागपत्र में समाज हारा है, भ्रूण जीती है परन्तु वह कम ? जब वह मर जाती है। परन्तु हार कर भी समाज बदला नहीं है सर एम० बयल को ही उस में बाहर जा कर इतिहास में निरुपेय जीवन बिताना पड़ रहा है। समाज और भ्रूण के बीच में सर एम० बयल किसी एक को निश्चित रूप से बोली नहीं टहरा सके हैं, क्योंकि वह स्वयं समाज-भीर है। त्यागपत्र का धारा दृष्ट इन पवित्रों में है, जिन में

कर 'प्रीमियर-प्रेमी' से आर्थिक लाभ उठाना चाहता है और यह भवसरकारीता मारी के तन बिकवाने से भी बड़ी विभीषिका है, परन्तु इस मोड़ के बिना भी कहानी कम मार्मिक नहीं थी। कहानी में मिस्टर देवतासीकर और कस्तूरी का उन के सम्बन्ध में स्वप्नावास कस्तूरी की मनोस्थिति का सूचक धने हो इस से कथा की साहसीयता ही बड़ी है। बैदना नहीं (इसी प्रकार पाम में हृदिप्रधान और 'सुखदा' तथा 'विमर्श' के पात्रिकारियों की पुनरावृत्ति है।) ऐसा जयता है कि कृति में मार्ग खोजने का प्रयत्न करते हुए बीनेन्द्र पूर्वकृति के समाधान पर पहुँचे हैं और अन्त में 'प्रीमियर' उन्हें हाथ लय गए हैं। इस से देवतासीकर और पाम कथा तथा चरित्र के विकास की दृष्टि से स्वर्ण भी हो गए हैं। इस से रचना का कला-सौष्ठव अवश्य संकट में पड़ा है और वह उलझ गई है। जो हो वह स्पष्ट है कि 'कस्तूरी' में बीनेन्द्र पर के भीतर की लोड़-लोड़ को प्रति और प्रेमी के दो केन्द्रों में बाँट कर उत्तीर्ण की विभीषिका और सङ्घर्ष की परकाष्ठा के दो अन्तिम छोरों पर बाँटिके हैं। एक तरह से वह उन की सबसे अधिक प्रतिबोधी रचना कही जा सकती है।

['स्वायम्भू' की तरह 'कस्तूरी' भी समूचा व्यंग्य है। यह व्यंग्य मूलात् और कस्तूरी के द्वार कर पकड़ाने में है। नीतर के महार सार्ध भी उन्हें बधा नहीं उनके परन्तु वे उन पर टिकी रहें। यह सार्धों के प्रति बीनेन्द्र का पक्ष पाठ कहा गया है और उन्हें प्रतिबोधी सार्धोंका का जनक माना गया है, परन्तु यह अनुपम की लाचारी है कि वह बस कर ही सार्धों को सार्धक बना सकता है। उस की अपनी सार्धकता समझे में है, परन्तु यह बनना मोरों की सार्धों खोस देता है। व्यक्ति के लिए जो सार्ध बने वह समाज के लिए सविद्याप भी हो सकता है चुनौती भी बन सकता है।

'परछ' से 'कस्तूरी' तक बीनेन्द्र के उपन्यास-लेखन का एक बड़ा पूरा हो जाता है और वह वह बर्षों के लिए चुप हो जाते हैं। परन्तु वह एकाग्र चुप भी नहीं रहते, क्योंकि अपनी प्रेम और साम्यत्व की कहानियों के द्वारा वह समा-पानों की सोज में लगे रहते हैं।

इस बर्षों के बाद जब बीनेन्द्र 'सुखदा' 'विमर्श' और 'अन्तीक' के साथ फिर एक बार उपन्यास की और मुझे तो पर की सुदृढ़ता के प्रति उन की साक्षात् जलावमान हो उठी थी।

**'सुखदा'**

। सुखदा की कथा बारी के बारीक-सावधान की कथा है। प्रति से स्वतंत्र बन

इस का क्या मतलब कि उस पर फिर आक्रमण नहीं होगा और फिर दूटने की समस्या उठ खड़ी नहीं होगी? 'मुलदा' और 'बिबर्ट' (१९४६) में जीनेग्र ने इस समस्या को फिर लिया है और घर को तोड़ा है। एक में पत्नी टूटी है दूसरे में पति। इस प्रकार के ये तीनों उपन्यास एक ही प्रश्न के तीन समाधान जनस्वित्त करते हैं।

## 'त्यागपत्र'

काल कम से 'मुनीश' के बाद 'त्यागपत्र' (१९३३) का प्रकाशन हुआ। इस में दूटे हुए घर की समस्या है। घर-बाहर की कोई समस्या नहीं है, क्योंकि घर एक तरह से बना ही नहीं है या बनत-बनते रह गया है। वास्तव में 'त्यागपत्र' समस्यामूलक नहीं है, क्योंकि जो समस्या थी वह मृणाल की मृत्यु से (बलिदान से) हल हो गई है। यह गई है क्या, या मर्त्य की कल सर एम० दयाल से त्यागपत्र दितवाती है। इसी दुष्का मृणाल ने भोगा और खरी गई, परन्तु भोगने से क्या कोई कुछ आता है? इसीलिए मृणाल की कथा खप हो कर भी निश्चय नहीं हुई है। 'त्यागपत्र' ने सारे हिन्दु-समाज को ही घबरासत में लड़ा कर दिया है समस्या यदि है तो गहरी है, अर्थात् पाप-पुण्य की है—कि दुष्का (मृणाल) पानी है या नहीं? क्याकार ने उतनी ही कथा की है, जिसकी मर्त्य की आँखों ने देखी, या उस में अनुमानित की, रोप मृणाल जाने या भगवान् क्योंकि इस उपन्यास में क्याकार सर्वदृष्टा का जोसा उतार कर कदा के उत्तरदायित्व से मुक्त हो जाता है। वहाँ तक सर एम० दयाल का सम्बन्ध है उपन्यास की कहानी उन की आत्म-प्रवचना की कहानी है, परन्तु उन की आत्म प्रवचना उन की कथा बन सकती है वह समाज की आकांक्षा का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकती है 'त्यागपत्र' धीपक ने मृणाल को पीछे बाल दिया है, परन्तु ध्यय बही है।)

'त्यागपत्र' की आधिका मृणाल विवाह से दूट कर घर के बाहर खड़ी हो गई है परन्तु समाज प्रति-परित्यक्ता गारी को किस स्वीकार करे? वह उस पवित्र मानता है और उपन्यासकार को मृणाल का पक्ष ले कर समाज की इस मान्यता पर आघात करना पड़ता है। सर एम० दयाल के त्यागपत्र में समाज हारा है, मृणाल बीटी है परन्तु वह कब? जब वह मर जाती है। परन्तु हार कर भी समाज बदला नहीं है सर एम० दयाल को ही इस में बाहर जा कर हरिकार में बिरक्त जीवन बिताना पड़ रहा है। यह और मृणाल के बीच में सर एम० दयाल किसी एक को निश्चित रूप में छोड़ने नहीं टूट सकते हैं क्योंकि वह स्वयं समाज-मीड है 'त्यागपत्र' का माध्यम यह पवित्रों में है किन में



## नियतिवाद

इस तरह जम कर विवाह के माध्यम से समाज धाता है और समाज हमें यानी कातबद्ध समझनेवाला को बुझा कर किसी और भी सुझम और ससक्त मूलाचार की ओर इतिष्ठ कर देता है—नियति या ईश्वर या क्या ? (जीनेन्द्र अपनी रचनाओं की परिणति इसी नियतिवाद या ईश्वरवाद में करते हैं—और स्पष्ट ही यह समस्या का कोई समाधान नहीं है) उस से न व्यक्ति सार्थक होता है, न समाज, परन्तु समझीते और समाधान हमें मिल जाते हैं। इस 'ईश्वर' को बीच में ला कर औपन्यासिक कथा की दृष्टि से जीनेन्द्र प्रबुद्ध बच गए हैं। उन्होंने न बुद्धि को हटा दिया है और मनोविज्ञान को पीछे धाक दिया है। परन्तु विचारक कथाकार के लिए, कोई तो आधार चाहिए, जिस पर टिक कर वह गढ़वालों और पात्रों को संभाल सके। जीनेन्द्र की टेक है नियति या परमात्मा। दोनों एक हैं क्योंकि दोनों प्रबुद्ध और प्रतिष्ठ हैं और उन पर मनुष्य का कोई बल नहीं चलता। )

'परब' में इस समस्या का क्या हम है ? सत्य समाज से समझीता कर लेता है, प्रेम को छोड़ कर वह विवाह पर टिक जाता है और गरिमा उस की हो जाती है। वह समाज का सम्भ्राम्य और सफल उपस्थ बनता है। उधर फट्टो और बिहारी विवाह के स्वाग पर प्रतिष्ठित प्रेम—पौराणिक सब—का मार्ग चुनते हैं। यों समाज भी बना रहता है और प्रेम की समस्या भी बुझम जाती है, क्योंकि समाज की इस में कोई शिंका नहीं है कि उस को स्वीकार कर लिया गया और चुपचाप उससे बाहर बसा गया है।

## ‘सुनीता’

अपनी दूसरी रचना 'सुनीता' (१९३२) में जीनेन्द्र प्रेम और विवाह के इस द्वन्द्व को और भी गहरा कर देते हैं, क्योंकि प्रेम यहाँ पूर्वरानी नहीं है विवाह में उस की परिणति नहीं होती। वह विवाह (साम्प्रत्य जीवन) के प्रति चुनौती के रूप में सामने आता है। जीनेन्द्र ने सुनीता के विरस साध्याय जीवन की छीछा को उभार कर इस चुनौती की अपयुक्त मूमिका भी दे दी है। प्रश्न यह कि घर-बाहुर में जीवन जीना है, प्रेमजीवन की छोटा से पल्लवित्त गारी घर में रह जाती है या गारीत्व की पीप-झिन्ना बन कर घर से बाहर समाज में धा जाती है ? घर दूटता है या घर की धीवारों से टकरा कर 'बाहर' बाहर ही रह जाता है।

'सुनीता' में घर बना ही नहीं रहता है और भी सुनुह हो जाता है। परन्तु

स में सन्नों ने पति-पत्नी के सम्बन्ध के कारण टूटे हुए बाम्पत्य जीवन को भंगित किया है और घर को भीतर से तोड़ा है। वैसे कस्याणी प्राधुनिक है और चिन्तित नारी-समाज का प्रतिनिधित्व कर सकती है परन्तु उस के भीतर का नारीत्व और मातृत्व भी पति की बल निष्ठा के कारण बराबर कूठित हो जाता है और अंत में वह भीतर से रिक्त होकर टूट जाती है। मुन्नास को समाज के दबाव ने तोड़ा है तो कस्याणी को बाम्पत्य ने (या पति ने)। भ्रष्टा होते हुए भी वह पति के लिए चुनौती नहीं बन सकी। मुन्नास समाज को सहती है और कस्याणी पति को। दोनों ही टूटती हैं, परन्तु बाम्पत्य की बेबी पर कस्याणी की बलि बलि ही है वह बलिदान नहीं बन सकी है। उस से हम ऊपर नहीं उठते बरन् चुपचाप से मर जाते हैं। यह स्पष्ट है कि इसमें जैनेन्द्र ने कबा की मांसल बनाने के लिए मनोविश्लेषणात्मक उपकरणों का विशेष रूप से उपयोग किया है और उपन्यास 'केस-हिस्ट्री' बन गया है। इस प्रकार से इस उपन्यास के साथ जैनेन्द्र का घर-बाहर का दृष्टांतमक अध्ययन बंद पत्नी में पहुँच जाता है। बाय की रचनाओं में समस्याओं और समाधानों की पुनरावृत्ति ही हुई है।

फ्रायडियन धातुओं ने 'कस्याणी' में पर-पीड़ा के प्रति धान्तीय समि-रति देसी है और उन के विचार में जैनेन्द्र मानवीय बिकृति की सीमा पर पहुँच गए हैं। परन्तु यह कस्याणी का पीड़ा प्रेम नहीं उस की आत्मा में पहुँचे जाने 'प्रीमियर' के प्रेम को सम्भवसत्ता देकर घरीर को एकदम तिरोभावित कर देता है। जिसना महुरा उस का प्रेम है उतना ही महुरा पीड़ा का दबाव भी वह सहन करती है।

कस्याणी की भावना का पति के द्वारा शोषण जब भण्डित सीमा पर पहुँच जाता है और वह की पीड़ा आत्मा की पीड़ा में बल्ल जाता है तब यह उसके लिए दुःख हो जाता है और वह जान-बूझ कर भीत की दरज में बसी जाती है (या भेज दी जाती है)। डाक्टर असरानी के रूप में सेलक ने महाजनी समाज में उच्च चिन्तित नारी के सामाजिक शोषण का जो चित्र प्रस्तुत किया है, वह पठित होने के पक्ष परफुल्ल की है; जहाँ पूर में ही फुल्ल है जहाँ बाम्पत्य फल है? क्या 'कस्याणी' पति की संस्था पर भी तीव्र व्यंग्य नहीं है? परिवार ही नहीं टूटा है बम्पति भी टूटे हैं क्योंकि बाहर से प्रेम न आ कर बिछोह की धाँच बीच में पड़ गई है। परन्तु जहाँ बाम्पत्य पत्नी के शोषण पर खड़ा है, वहाँ बाहर से उस के तोड़ने की आकांक्षयता भी नहीं। परन्तु कस्याणी यह सब कैसे सहती? कदाचित्त इसलिये जैनेन्द्र ने उपन्यास के अन्त में 'प्रीमियर' के प्रेम का नया मून बना कर इस उपन्यास को पूर्वरानी प्रेमिका के वाली है। पति उसे जान

विरक्त एम० बयान कहते हैं—“विवाह की प्रति जो के बीच की प्रति नहीं है, वह समाज के बीच की भी है। जाहने से ही वह क्या टूटती है? विवाह मानु कृपा का प्रथम नहीं, व्यवस्था का प्रथम है। वह क्या यों टासे से टस सकता है? वह नांठ है जो बंधी कि खुस नहीं सकती टूटे तो टूट गये ही जाए, परन्तु टूटना कब किस का व्ययस्कर है!” ७७

परन्तु प्रश्न यह है कि व्यक्ति क्यों टूटे और समाज क्यों बना रहे? इस प्रश्न का कोई समाधान जैनस्य नहीं देते, क्योंकि कोई समाधान उस समय तक सम्भव नहीं है जब तक हम धरातलकाशी न बन जाएँ और समाज की प्रति कार्यता को अस्वीकार ही न कर दें। नारी के विद्रोह को समाज पर कार्य न कर जैनस्य उसे बसने देते हैं और इस प्रकार समाज को टूटने से बचा जाते हैं, परन्तु यहाँ भेदक की शारीरिकता और वस्तु स्थिति का उसे सहारा है। नियतिवाद और समाज का प्रस्तुत बोधा को होने देता है वही तो होता है। भेदक अनेक सम्भावनाओं में से वही लेगा जो शाश्वत जीवन-बोध और सामयिक स्थिति पर जागू हो सकेगी। इस के लिए हम उसे क्यों रोप दें? इसे हम भेदक का मार्ग वाद कह कर भी छुट्टी पा सकते हैं परन्तु यह मानना होगा कि जैनस्य ने फिर भी समाज को बचाया नहीं है उसे खपाया ही है। सर एम० बयान के अनुसार में आलोचकों के प्रति उस का उत्तर अश्वनिहित है। वास्तविक प्रश्न समाज की सीमाओं को ले कर है और उस पर समाज की कहानी सम्भव नहीं उठती। शाश्वत प्रश्न नियतिवाद या ईश्वर को ले कर है और उस पर भेदक का दृष्टि कोन भारतीय-संस्कृति से पुष्ट है। इन दोनों सीमाओं के भीतर ही 'त्यागपत्र' आलोच्य बन सकेगा और वहाँ ध्यान में रख कर ही हम उसके प्रति ग्याय कर सकेंगे।

समीक्षकों ने मुक्त की कथा को लिया है, उस की व्याख्या को नहीं लिया। जैनस्य के व्यापक सामाजिक और शारीरिक सुषों को ले समरेखा कर गए प्रथम उन्हें प्रशासनिक मान बैठे (परन्तु जैनस्य पहले विचारक है फिर कर्माकार) कथा उन के विचार को दोसती है। वह उदाहरण है मान उदाहरण नहीं है और भी कुछ है क्योंकि उसकी पीड़ा कुछ दुर्बल भी है जाती है।

### 'कल्याणी'

कल्याणी' (१९३६) जैनस्य के उपन्यास-लेखन की एक महत्वपूर्ण कड़ी है और इस की रचना का महत्व इसलिए और भी अधिक है कि इस के बाद जैनस्य मीन हो जाते हैं और बग बयें बाय फिर उपन्यास-लेखन की ओर प्रवृत्त होते हैं।

इस में उन्होंने ने पति-पत्नी के अन्तर्हृद के कारण टूटे हुए साम्प्रत्य जीवन को निमित्त किया है और घर को भीतर से तोड़ा है। जैसे कस्याणी भावुमिक है और शिक्षित नारी-समाज का प्रतिनिधित्व कर सकती है परन्तु उस के भीतर का नारीत्व और मातृत्व भी पति की अम-सिप्सा के कारण बराबर कुंठित हो जाता है और अंत में वह भीतर से रिक्त होकर टूट जाती है। मुन्नास की समाज के दबाव ने तोड़ा है तो कस्याणी को साम्प्रत्य में (या पति ने)। शिक्षित होते हुए भी वह पति के लिए कुनीती नहीं बन सकी। मुन्नास समाज को सहती है और कस्याणी पति को। दोनों ही टूटती हैं परन्तु साम्प्रत्य की बेबी पर कस्याणी की बलि बलि ही है वह बलिदान नहीं बन सकी है। उस से हम ऊपर नहीं उठते बरन् कुपुष्पा से भर जाते हैं। यह स्पष्ट है कि इसमें जीनेन्द्र ने कथा को मांसम बनाने के लिए मनोविश्लेषणात्मक उपकरणों का विशेष रूप से उपयोग किया है और उपन्यास 'केस-हिस्ट्री' बन गया है। इस प्रकार से इस उपन्यास के साथ जीनेन्द्र का घर-बाहर का इन्तारमक सम्पदन बंध गयी में पहुँच जाता है। बाद की रचनाओं में समस्याओं और समाजानों की पुनरावृत्ति हो गई है।

काव्यिकयन प्रालोचकों ने 'कस्याणी' में पर-पीड़ा के प्रति मानवीय धर्म बलि देवी है और उस के बिचार में जीनेन्द्र मानवीय बिकृति की सीमा पर पहुँच गए हैं। परन्तु यह कस्याणी का पीड़ा प्रेम नहीं, उस की आत्मा में पहुँचे जाते 'प्रीमियर' के प्रेम को उग्नबसठा देकर क्षीर को एकदम तिरोभावित कर देना है। बिचना गहरा उस का प्रेम है, उतना ही गहरा पीड़ा का दबाव भी वह सहन करती है।

कस्याणी की भावना का पति के द्वारा घोषण जब ध्वस्त सीमा पर पहुँच जाता है और बेहू की पीड़ा आत्मा की पीड़ा में बदल जाती है तब यह उसके लिए कुसह हो जाता है और वह जान-बूझ कर मौत की धारण में जाती जाती है (या नैज भी जाती है)। डाक्टर भसरानी के रूप में मेच्छक ने महाजनी समाज में उच्च शिक्षित नारी के सामाजिक घोषण का जो निज प्रस्तुत किया है, वह पतित होने के साथ अभावही भी है। जहाँ भूष में ही कुत्सा है, वहाँ साम्प्रत्य क्या है? क्या 'कस्याणी' पति की संस्था पर भी तीव्र व्यंग्य नहीं है? परिवार ही नहीं टूटा है, सम्पति भी टूटे है क्योंकि बाहर से प्रेम न आ कर बिछोह की धाँच बीच में पड़ गई है। परन्तु जहाँ साम्प्रत्य पत्नी के घोषण पर खड़ा है वहाँ बाहर से उस के तोड़ने को आग्रहमयता भी नहीं। परन्तु कस्याणी यह सब कैसे सहती? कथावित्त इसलिए जीनेन्द्र ने उपन्यास के अन्त में 'प्रीमियर' के प्रेम का नया मूक चला कर इस उपन्यास की पुनरावृत्ति भूमिका « डाली है। पति उसे जान

कर 'प्रीमियर-प्रेमी' से प्राथमिक नाम छठाना चाहता है और यह प्रसन्नचित्तता मारी के तन बिखराने से भी बड़ी विभीषिका है, परन्तु इस मोड़ के बिना भी कहानी कम प्राथमिक नहीं थी। कहानी में मिस्टर देवतासीकर और कस्याणी का उन के सम्बन्ध में स्वप्नाभास कस्याणी की भगोस्मिति का सूचक भले हो इस से कथा की शास्त्रीयता ही बड़ी है बेदना नहीं (इसी प्रकार पास में हरिप्रसाद और 'सुखदा' तथा 'निबर्त' के नातिहारियों की पुनरावृत्ति है।) ऐसा समझा है कि कृति में मार्ग खोजने का प्रयत्न करते हुए जैनस्य पूर्वकृति के समाधान पर पहुँचे हैं और अन्त में 'प्रीमियर' उन्हें हाथ सध गए हैं। इस से देवतासीकर और पास कथा तथा चरित्र के विकास की दृष्टि से व्यर्थ भी हो गए हैं। इस से रचना का कमा-सौष्ठव अवश्य संकट में पड़ा है और वह उसका दर्द है। जो हो यह स्पष्ट है कि 'कस्याणी' में जैनस्य घर के भीतर की लोड़-झेड़ को प्रति और प्रेमी के दो केन्द्रों में बाँट कर उत्पीड़न की विभीषिका और सहन की पराकाष्ठा के दो अन्तिम कोरों पर बाँट दिये हैं। एक तरह से यह उन की सब से अधिक प्रतिबारी रचना कही जा सकती है।

('रामायण' की तरह 'कस्याणी' भी समुदाय व्यंग्य है। वह व्यंग्य सुमान और कस्याणी के द्वार कर चलाने में है। भीतर के पहलू पार्श्व भी उन्हें बचा नहीं सके, परन्तु क उन पर टिकी नहीं। यह पार्श्वों के प्रति जैनस्य का परा पाठ कहा गया है और उन्हें प्रतिबारी पार्श्ववाद का बलक माना गया है, परन्तु यह मनुष्य की भावना है कि वह चल कर ही पार्श्वों को सार्थक बना सकता है। उस की अपनी सार्थकता बनने में है परन्तु वह चलना औरों की पार्श्व खोल देता है। व्यक्ति के लिए जो पार्श्व बने वह समाज के लिए समिष्टाय भी हो सकता है, चुनौती भी बन सकता है।

'परस' से 'कस्याणी' तक जैनस्य के उपन्यास-लेखन का एक बल प्रवाह हो जाता है और वह उस बलों के लिए चुप हो जाते हैं परन्तु वह एकदम चुप भी नहीं रहते क्योंकि अपनी प्रेम और साम्राज्य की कहावियों के द्वारा वह समाधानों की खोज में मग्न रहते हैं।

इस बलों के बाह्य बल जैनस्य 'सुखदा' 'निबर्त' और 'व्यतीत' के साथ फिर एक बार उपन्यास की ओर मुड़े तो पर की सुदृढ़ता के प्रति उन की आस्था बलवत्मान हो उठी थी।

**'सुखदा'**

( 'सुखदा' की कथा मारी के नारीत्व-साधना की कथा है। पति से स्वतंत्र बन

र पत्नी (विवाहिता नारी) अपना जीवन अपने हाथ में लेना चाहती है, परन्तु इस स्वातन्त्र्य के पीछे विद्रोह का आच्छाद और संस्कारजड कुण्ड भी काफी सामाजिक हो कर व्यक्तिगत भी बन जाता है। जो हो यह स्पष्ट है कि पति की उपासना को अपरिचीन विस्तार दे कर भी जैनेन्द्र इस समस्या का समाधान नहीं कर पाए हैं क्योंकि घर तो टूटता ही है, परन्तु इस के साथ हिंसात्मक अंतिकारियों की कथा भी है जो पति के बास-भिन्न हर्षिषा (हरीष) के धारम-समर्पण पर समाप्त होती है। यह समर्पण सुखदा के पति (काण्व) के हाथ से ही हुमा है और इस ने उस के विद्रोह को बिच्छेद तक पहुँचा दिया है। सुखदा को छत्र तक पहुँचा कर लेखक भ्रमविशी नारी के स्वातन्त्र्य को भ्रम ही सिद्ध करता है, परन्तु यह स्पष्ट है कि यह उपपन्नास लेखक की घर-बाहर की समस्या को एक नया मोड़ देता है। प्रेमचन्द की भी एक सुखदा है (कर्मभूमि में) और उन के साहित्य में सुमन (‘सेवासदन’ में) में भी नारी के विद्रोह और स्वातन्त्र्य के चित्र हमें मिलते हैं, परन्तु वहाँ यह विद्रोह जीवन-दर्शन नहीं बना है, न उसे मनो वैज्ञानिक धर्म ही बनाया गया है। सुमन एक भटके में घर के बाहर आ जाती है और घन्ट में हार कर संन्यासी पति द्वारा स्थापित सेवासदन (धामम) में धामम ग्रहण करती है। कर्मभूमि की सुखदा को पति का साथ देने के लिए घर की बहारदीवारी से निकल कर लेबी बनना पड़ता है परन्तु जैनेन्द्र की सुखदा, जो पति के बन्धन से मुक्त होने के लिए अपने से ही फगड़ना पड़ता है क्योंकि वहाँ बन्धन नहीं है वहाँ भी उस के संस्कार विद्रोह की कल्पना कर लेते हैं। यह स्पष्ट है कि बन्धन बाहर के नहीं हैं भीतर के हैं और एक बार तोड़ कर उन्हें छोड़ा नहीं जा सकता (रवीन्द्र के ‘आरम्भाय’ और धरमचन्द्र के ‘पंचरत्न’ से प्रभावित होने पर भी जैनेन्द्र नारी-विद्रोह की इस कहानी को भाँति कटा दे सके हैं)। इस में सन्देह नहीं कि उन की सुखदा की तेजस्विता सुमन या ‘कर्मभूमि’ की सुखदा से कम नहीं है यद्यपि वह धीपन्नासिक (कर्ममयी) कम है, मानसी अधिक है। एक कारण यह भी है कि वह व्यतीत है बीत गई है और बीते की स्मृति में बँध तो है परन्तु जीवन नहीं है। फिर भी यह सच है कि वह विचारक उपपन्नासकार का नया प्रयोग है। ‘सुखदा’ और ‘विचल’ में अन्तर यह है कि ‘सुखदा’ में संकट की धोर साहस से बढ़ने वाली नारी का चित्रण है जो कहीं भी धारम-रक्षक नहीं है परन्तु ‘विचल’ में विपत्ति घनाहूत आई है और एक ही समस्या के दो विभिन्न समाधान या चित्रण हमें इन उपपन्नासों के द्वारा मिल जाते हैं। मुक्तमोहिनी को जो पनायास ही प्राप्त हो गया है उसे हृष कैंसे पत्नीकार कर देंगे। ‘सुखदा’ में नारी-जीवन की मुक्ति की आकांक्षा पल्लवित

है (बैवाहिक जीवन में भी पत्नी पत्नीत्व के बोझ से मुक्त हो कर स्वार्थस्य का अनुभव कर सकती है या नहीं वह धार्मिकोपनिषद् के श्रेष्ठ हैं कहाँ तक अपने पैरों पर बढ़ सकती है) यह सुबहा की समस्या है। परन्तु विवर्त में प्रेम के बीच में बर्ध थावा है और बर्ध-भुक्ति का प्रयास पुरुष को जातिकारिता की घोर बढ़ा देता है। रेत पिरा कर जितेन बर्धबाद (धर्मीय) के प्रति ही अपने धार्मिक को प्रकट नहीं करता अपने प्रति अपनी जीभ को भी कर्म की बाजी बना देता है। यह कर्म की बाजी प्रेम की अक्षमता का विस्फोट मात्र है। इस प्रकार उपन्यास में दो जीवन-युग्मों को लर्क की डोर में नहीं भाव की डोर में बाँध दिया गया है। प्रेम और धर्मीय (बर्ध) के प्रति विरोध द्वितीयक जाति (या धार्मिक राष्ट्रीयता) से जोड़ दिए गए हैं। अंत में जितेन पार्टी को रंग करने का आदेश दे कर धार्मिक-समर्पण कर देता है परन्तु यह समर्पण हरिदा के धार्मिक विश्वास और हृदय-परिवर्तन के भीतर से नहीं आता। वह प्रेम-व्यस्य दुष्टा पर धार्मिक बलिदानी प्रेम की विजय है। अंत में विजय भुक्तमोहिनी की होती है। वह जितेन के भीतर से जीवन की विफलता को नष्ट कर देती है क्योंकि वह जितेन के अक्षमता को विफल कर देती है—वह अपने जीवन की धार्मिक प्रवचना से परिचित हो जाता है। इस से उस का अंधि-बोधन होता है। वह भाव से कर निकल पड़ता है और रात भर रेत पर सोट-सोट कर इन्हीं से भुक्ति पाने में सफल होता है। मोहिनी की अक्षमता ने उस के भीतर की गाँठ निकाल दी है। धात्र वह धार्मिक प्रवचन नहीं धार्मिकिष्ठ है। इसीलिए वह अक्षुण्ण और सहज भाव से अपनी देह को बढ़ा के हाथ में सौंप देती है। जितेन जान सेता है कि उस का प्रेम अस्वीकृत नहीं है परन्तु वह पति और पत्नी दोनों में से किसी को नहीं छोड़ सकता। वह दोनों को अधिक निकट ही ला सकता है क्योंकि दोनों का उद्देश्य यही है कि वह अपने प्रति अहिंसक बने। नरेश के घर में पहुँचते ही पहले दिन जितेन ने आन लिया है कि वह शुच है तो अनायास ही जितेन (सहाय) के मुँह से निकल आता है—“शुच होने की बात है। देखता हूँ बहाँ सब है और आभि पथ पर इतना विश्वास है कि संका की छाया की अपह नहीं। तो इस को बिबाह कहते हैं ?”

विबाह सत्य है, परन्तु प्रेम क्या असत्य है। सत्य और स्नेह (प्रेम) दोनों को रखा करने में ही मानव-जीवन की सार्थकता है। एक साथ दोनों को रखा हो जाए वह ठा साधारण साधना नहीं है। इसीलिए जीने ने उपन्यास के कैद में अपने जीवन-दर्शन को इन शब्दों में रखा दिया है—“हार (वह) हमारी नहीं होती, सिर्फ विघ्ना की होती है।” लेकिन सत्य क्या है? क्या सब स्नेह-बंधनों

को मस्वीकार करता जाए, यही सत्य है ? क्या उन की पवित्रता और आंतरिकता को निर्मलता और निरावलम्ब करता जाए, यही सत्य है ? नहीं, तो फिर इस बसंत में कैसे बसता होया ? सब कुछ तो बाहर जाने के लिए है नहीं ! मन्त्र हमारे क्या कुछ पुष्पा कर्षण, अपरूप नहीं है ? वह भीतर बस है इसी में तो साम्यता है ! ऊपर क्या है कि अपरूप भीतर रहे ! ऐसा है तो क्या ? उचित ही नहीं है ? इस में अन्वेष क्या है ? क्या सत्य है यह कि रूप को ऊपर नहीं रखने दिया जाए और अपरूप ऊपर और बाहर सब ओर फैलने देना होया ?

### ‘अतीत’

‘अतीत’ जैनेन्द्र के इस समाधान को प्रयोग की एक नई भूमि देता है । उस में स्त्री को व्यर्थ नहीं दिया गया है, जो व्यर्थ और अतीत हो गया है वह पुरुष है । परन्तु इस अतीतता और अतीतता में ही उस की उत्पत्ति सांस्कृतिक और साम्यता भी निहित है । जैनेन्द्र के अन्य उपन्यासों में पुरुष आक्रमक है और स्त्री का पुत्र प्रेमी या नया प्रेमी बन कर घर की तोड़ना चाहता है परन्तु इस उपन्यास में अमीरी की भूमिका न कर स्त्री प्रेमी के जीवन से हट जाती है और अपने घर को बनाए रख कर भी उस के प्रेम को देह के साथ से अलग रखना चाहती है । अतीत के निरन्तर प्रहार से जगत को बचा कर जैनेन्द्र प्रेम के अतीतों रूप को अतीतकता देते हैं और अपने उपन्यासों की समस्यामूलकता का भाव ले कर सामने आते हैं । प्रेमी जीवन और साम्यता की सारी सम्भावनाओं को उन्होंने ने अतीत के सूरों की अनेक सम्भावनाओं के सदृश हल करना चाहा है और इसी लिए वह अतीतारी सीमाओं तक गए हैं और उन के समाधान ही विविध नहीं हैं उन का जीवन-विचार भी अमूर्तता और अन्वेषात्मक बन गया है । उन के पास विस्फोटक बन गए हैं और उन की ऊर्जा इमेनेंटी विकर्षणता में बंध कर विमुक्तता को मुक्त बन गई है । यह स्पष्ट है कि अपने उपन्यासों में जैनेन्द्र विचार भी उभारते हैं और व्यापार भी, और उन की कथा विचारक उपन्यासकार की भाव-साधना बन गई है । उस की सामाजिक जागरूकता आधुनिक ज्ञानोद् में जो गई है, परन्तु एक बार जैनेन्द्र की उपन्यासिकता के इस स्वयं को स्वीकार करने के बाद उन से किसी प्रकार की प्रियता नहीं रह जाती ।

जैनेन्द्र का साहित्य सैवात्मिकतामयी साहित्य है । उस में मध्य वर्ग पहली बार अपने प्रति अपने और आयरुद्ध विचारों देता है और अपनी मायताओं सम्बन्ध में प्रश्न उठाता है ।

‘परन्तु’ में वह प्रेमव्यवस्था के साथ है—समाज का बचा कर भी व्यक्ति को



महीं तोड़ते उसे धारमबलिदानी बना कर, वैयक्तिक प्रेम की भूमिका से ऊपर उठा कर उसे धार्मिक प्रेम के 'सुन्न महल' में पहुँचा देते हैं परन्तु 'सुनीता' में वहाँ एक घोर बहु पति-भारसँबाही बन गए हैं वहाँ प्रश्नमूसक हो कर हमें संकट में भी डाल गए हैं। उन्होंने ने मध्य वर्ग के शिक्षित समाज को उस की मांगताओं की कसौटी पर कसना चाहा है और कसावट में काली रेखा डी। अधिक उमरी है। हिन्दू-समाज की मूल मिति है परिवार—जो अब बाम्पत्य में घिबट भ्रामा है, परन्तु इस बाम्पत्य में सचार्द किताबी है? क्या बहु पत्नी की बर्ति पर महीं खड़ा है? क्या मारी का मारीत्व और मातृत्व भी वहाँ संरित नहीं है? क्या बहु भी मध्य वर्ग के पुस्य की अधिकार-निष्ठा की सीला-भूमि नहीं है? अब समाज टूट कर दो (पति-पत्नी) में रह गया है तब इस इकाई को भी बहुरा क्यों न देखा जाए? वह विज्ञाता ही बीनेन्द्र हैं 'सुनीता' 'त्यागपत्र' 'कस्माभी' 'सुखदा' और 'विबर्त' लिखवाती हैं। बाम्पत्य क्या देह का है? देह होने पर उस की सुरक्षा कहाँ है? क्या बहु व्यक्तिपत है या सामाजिक? बहु मोम पर टिका है या त्याग पर (उत्तर में सुनीता) है जिस में हम बाम्पत्य की निष्ठा से परिचित होते हैं और शिक्षित मारी में समातन सतीत्व या उस के प्रति आत्मावान बनते हैं। साथ ही हम उससे बचना भी चाहते हैं क्योंकि हमारी नैतिकता देह को जमाड़ना नहीं चाहती। परन्तु प्रश्न यह है कि क्या बीकाँठ-सुनीता के बाम्पत्य में समाज के प्रति असहिष्णुता भी नहीं है? हृत्प्रसन्न के पसावन से यदि बीकाँठ और सुनीता बचे तो इस से बाम्पत्य की महिमा क्या सचमुच बढ़ी? 'सुखदा' और 'विबर्त' में पत्नी और पति टूट कर भी उदार बनते हैं सामाजिक होते हैं और अपने को बचाते नहीं। समाज के लिए व्यक्ति के त्याग का भारसँ ही इन उपमाओं का प्राण है। सहने में ही सच्चा शौर्य है, भागने में नहीं। क्या मारी में है कि बहु पति से हटती या रही है और पुस्य में भी है कि बहु अपने प्रेमास्पद के प्रति उतना उदार नहीं है जितना होना चाहिए। सतीत्व को सत्कार की पार की तरह पैना बना कर बीनेन्द्र उस से देह को एकत्रम काट देना चाहते हैं, परन्तु देह के साथ आत्मा भी जमड़ ही जाती है। नीति-अनीति के प्रश्न पर टिक कर बीनेन्द्र मध्यम वर्ग को समाज के प्रागे कटथरे में प्रस्तुत नहीं करते उसे कई संरक्षित के द्वारा उत्पन्न सूक्ष्म चेतना के प्रागे भपराधी बना कर खड़ा करते हैं। 'त्यागपत्र' और 'कस्माभी' में वह पति-परित्यक्ता मारी के सतीत्व के दावे को देह पर संरित करा कर भी उस की धार्मिक वीर्य को प्रचण्ड बनाए रखते हैं और समाज को पन-पन पर चुनीती देते हैं कि वह अपनी पाप-पुण्य की मांगताओं को बरसे। चुनीती पतित्व को भी है कि बहु धर्म-पत्नीत्व को नए सिरे से जाने

परन्तु 'त्यागपत्र' में पति परदे के पीछे है। अभिमुख के रूप में समाज सामने है। पति से दूट कर गरी स्थितिहीन हो जाती है, यह सत्य मृणाल ने भोम कर जाना है। प्रेमचन्द सुमन से इस सत्य को बचा गए हैं, क्योंकि उन्हें आदर्शवाद का सहारा है, परन्तु जैनेन्द्र देह को असार्थक कर मृणाल को बेबी बना कर भी समाज के मम पर चोट करते हैं। उनका पति भाषाज्ञान, ज्ञातता हुआ संसार है। 'कल्याणी' में पति की बग-सिप्पा पत्नी के पूर्व-प्रेम का भी धोपन करना चाहती है और वहाँ वह कुर्नीति है, वहाँ साम्प्रत्य छनमा माव है। इस प्रकार इन रच नाओं में प्रेम और विवाह के दृष्ट के भीतर से साम्प्रत्य को धमि-नरीखा में डाला गया है और कुलते हुए समाज के लिए नए नैतिक मूल्यों के अन्वेषण का साहस किया गया है।)

(यह स्पष्ट है कि जैनेन्द्र के उपन्यास धनुमूठ नहीं कल्पित और धनुमानित हैं) वे उन के विचारों के औपन्यासिक और प्रायोगिक संस्करण हैं। इसी से पात्र हम पर उतना ही कुलते हैं जितना जैनेन्द्र उन्हें सोचना चाहते हैं। अपने इन कथा-अवयवों में वे मनोविज्ञान और मनोविलेपन शास्त्र की (विधेयता कायद की) नई उपलब्धियों को भी लेते हैं। परन्तु यह जैनेन्द्र की औपन्यासिक प्रतिभा की विशेषता है कि उन के पात्र हमें संवेदनीय लगते हैं और धनुमूठ रह कर भी हमारे निकट के बन जाते हैं। विवरण और वर्णन को त्याग कर केवल मनस्वेतना की भूमिका पर पात्रों को धड़ा कर जैनेन्द्र उन्हें पक्षि के प्रतीक जैसी सार्वभौमिकता दे देते हैं (वे वैचारेपन की मुद्रा बना कर हमारा हृदय पीठ लेते हैं)। विचार को व्याख्या बनाने में ही जैनेन्द्र की औपन्यासिक कला का महाराज चर्च हुआ है। उन के साहित्य को हम मध्य वर्ग के शिक्षित मन की वैचर्यीय भूमिका दे कर ही नई सांस्कृतिक वेतना का धर्म बना सकते हैं।)

(जैनेन्द्र के उपन्यास केवल क्यारमक समीक्षा में पकड़ में नहीं आ सकते। वस्तु-संपन्न चरित्र-चित्रण संवाद पापा-सौसी उद्देश्य ऐसा बचा हुआ बांधा उन के उपन्यासों को झपटा भी नहीं सोलता। वे मूल्यपत्र हैं और व्यापकतम सामाजिक और सांस्कृतिक संदर्भ में ही सार्थक होते हैं। यद्यपि उन के धारम क्यारमक आचारीयत कीणपात्र-मठ और पत्र-पत्र संक्षिप्त और संदर्भों का विस्तृत उपयोग मिलता है और वे परिणामी उपन्यास के धनुमानत चित्र का धामास देते हैं।) इसका तो यह है कि वे बहुत कुछ निबन्धनात्मक हैं और विकसित औपन्यासिक चित्र तथा मनोविलेपन-शास्त्र के नए जीवन-मूल्यों को उभारने के लिए उपकरण मात्र हैं। उन में हमें जीवन-निष्ठता की प्राथमिक अन्तर्दृष्टि का बरदान मिलता है। एक प्रकार से उन्हें मनोविलेपन-शास्त्र की सामान्यतर उप

सम्बन्ध कहा जा सकता है।

संक्रांतिकासीन और ह्रासोन्मुख संस्कृति का वह विराट् क्षण बैनेन्द्र के उपन्यासों में संपुटित है जो वर्तमान कालिक संस्थितियों के भीतर से व्यक्ति और समाज की दुर्बलताओं की ओर जंगसी उठता है। इन के उपन्यासों का अध्ययन करते हुए हम समसामयिक मानस की धावेयबलक भूमिकाओं पर बम्भीरतापूर्वक विचार कर सकते हैं और इस के साथ ही परिवेष्टीय संघर्ष की प्रकृति की पूरी-पूरी जागृता का निर्वाह कर पाते हैं (भारतीय मध्य वर्ग के विकास की ऐतिहासिक और धातुप्रवाहिक चेतना के भीतर से समसामयिक मिश्रणों को बाणी देने के लिए जैसी सतर्क अनिश्चित-व्यंजक और समर्थ भाषा खोजी चाहिए) वह बैनेन्द्र के साथ पर्याप्त है—नहीं उसे उन्होंने ने ही पड़ा है और इस प्रकार खड़ी बोली की सक्षमता को दूर तक फैलाया है। परिवर्तनशील संस्कृति का औपन्यासिक स्वल्प धातुबल के लिए अत्यन्त आकर्षक विषय बन जाता है। शिस्तगत वैयक्तिक और आधिपत्य के पीछे इस सांस्कृतिक सार्वभौमता को पकड़ना ही समीक्षक का कार्य है (बैनेन्द्र के उपन्यासों में अवचेतनीय स्तर पर ऐसे संवेदनों को बुद्धि-गम्य बनाने का उपक्रम है जो शैली या शिष्ट की व्यक्तिगत उपलब्धि मात्र नहीं कहें जा सकते बल्कि जिन में सामसामयिक संस्कृति की स्थिति का स्पष्ट प्रतिबिम्ब है) इस सांस्कृतिक दृष्टि को बैनेन्द्र ने प्रभावित करने की उम्मीद दी है और वह बौद्धिक बलते हुए भी धारमभेद नहीं है। इन की कला के लिए यह कल्याणकर ही रहा है क्योंकि समस्याओं और परिणामों के सम्बन्ध में बौद्धिक आगच्छता रचना की बहुविधता और चर्चाति प्रभावमयता को उद्घोष नहीं करती। (बैनेन्द्र के उपन्यास मध्य वर्गीय संस्कृति की मात्र की स्थिति के विम्ब-प्रतिबिम्ब चित्र हैं, उन में नई संस्कृति की ओर सञ्चरण का कोई प्रयत्न प्रयत्न नहीं है) संक्रांति को धार कर लेने के बाद ही साहित्यिक पुनर्निर्माण का प्रयत्न उठ सकता है। बैनेन्द्र यदि संक्रांति के बीच में दृढ़ते उतराते रहते हैं तो अखिल बौद्धिकता के इस युग में हम उन्हें कोई किनारा नहीं दिखा सकते। अवस्थित रहने में ही उन की सामर्थ्य है। )

# कहानीकार जेनेन्द्र और उन की वैचारिक पृष्ठभूमि

—मन्मथनाथ गुप्त

जेनेन्द्र की बहुत-सी कहानियाँ विरल-साहित्य के स्तर की हैं इसे किसी प्रकार की संपादित हुटबन्दी या बुप्पी का पदार्थन बरस नहीं सकता। बंमला के प्रसिद्ध लेखक 'साहूब बीबी कुषाम' व्याप्ति के विमल भिन्न से जेनेन्द्र जी की एक कहानी 'घोर' का बहुत प्रशंसा की थी दुर्भाग्य से उनको जेनेन्द्र जी की केवल एक कहानी ही पढ़ने को मिली थी फिर भी उन्होंने ने निजी बातचीत में तथा सर्वत्र उस का बड़ी प्रशंसा के साथ शिक किया। यदि उन्होंने ने और कहानियाँ पढ़ी होती तो निश्चित है कि वह भवस्य घोर अधिक प्रशंसा करते।

जेनेन्द्र जी ने कई-सी कहानियाँ लिखी होती। यद्यपि यह संख्या काफी बड़ी है पर वह नहीं कहा जा सकता कि उन्होंने ने बहुत अधिक कहानियाँ लिखी हैं। वह स्वयं इस बात को कहते हैं कि कहानी लिखने में वह धापा को नहीं संभारते घोर न पित्त को ही संभारते हैं फिर भी हम में सम्यह नहीं कि जेनेन्द्र जी की एक निजी सुपरिचित घंटी है जिस की दृष्टि ही हिन्दी का माध्यम अच्छी तरह पहचान देता है। परसाई चावि ने कई स्थान रचनाएं इसी आधार पर की हैं।

जेनेन्द्र जी यह मानते हैं कि धाम के निज कहानी सब से सफल माध्यम है। वह उपन्यास घोर कहानी का मुकाबला करते हुए कहते हैं कि उपन्यास बड़ी सफल है घोर प्रभाव भी उस का बना होता है। लेकिन समय की गति में कृतता का अनुभव करते हुए वह कहते हैं कि उपन्यास का कतेवर बोधिन पड़ सकता है इसलिए कहानी अधिक प्रभावोत्पादक है।

कैसे उन्होंने ने पहली कहानी लिखी इस सम्बन्ध में उन का बहस्य इस प्रकार है —

“एक बप्पु नामि घोर उसी तरह के कार्यों से उद्यत कर देकार ही पर घोर देकार में काम जोरत हुए बिस्ती आए। बड़ी बोधिस से उन को प्रारम्भी स्तुत में सुखरती मिली। धारनी ऊँचे विचार के से घोर कलामिमुख से। बीये दजे ठक का स्तुत घोर उन्होंने ने बड़ी हाथ लिखी पत्रिका जारी की। बड़ी

सब-सब धीर सक्षम से उसे संभारते थे। उसी के लिए पहली बूझरी, गीझरी कहानी लिखी गई होगी। लिखते वक़्त कहानी है यह भी नहीं मामूम होता था। चिट्ठी धाँदी की धीर को मन में घामा लिख भेजता था। पहली कहानी में सायब ब्यंभ के साथ उपवेश देने की मैं ने ठानी होगी। दो-एक पैराग्राफ़ के बाद एक मेठा उस में धंघेजी में बोल पड़ते थे। जब धंघेजी की बरतुता के दो-चार वाक्य लिखने पर पता चला कि जहाँ बीज जाने वाली है वहाँ बटसाम के बच्चे होंगे धंघेजी कोन समझेगा? इसलिए उसे रोक लिया गया धीर वह पीछे 'रेस प्रेम' के नाम से छपी। उस की बरतुता जय हाथ बहुत बटमा लिख भेजी को कुछ रोब पड़ते मेरे साथ पड़ी थी। उस के घागे भी कल्पना से कुछ बोड़-बाड़ दिया धीर वह 'फोटोग्राफी' बन गई। उसी हस्तलिखित पत्रिका 'ज्योति' के लिए 'रेस' धीर 'जोरी' बनी। ये तीनों कहानियाँ पीछे बूझरी पत्रिकामों में छपीं। लेकिन यह सब लिखते वक़्त प्रेरणा का प्रबल ही न हुआ था। जन्म ने चिट्ठी का उत्तर बकरी होता था धीर में मनमाना लिख भेजता था। क्या पता था कि ये रचनाएँ कहानी कहलगायी धीर मुझ से एक दिन बबब ठक ठसब होगा।"

वह यह नहीं मानते कि उन्होंने ने पहली कहानी लिखी तब उन के सामने कोई ब्यवस्था की धीर घागे भी उन की कोई ब्यवस्था रही। उन के बरतों में —

८ लिखने की कोई बिबधता मैं अपने जीवन में नहीं देखता। बरतों-बरत पुनरप है धीर मैं ने एक हुरक नहीं लिखा है। धंघेजी का कोई बिबधता होती तो यह हुरमयीरी मुझ से नहीं हो सकती थी। धीर देखिए कि लिखने के बिबाए कोई मैंने काम का काम नहीं किया है लेकिन लिखा लिखा है उता तो कोई प्रामाणिक कार्यकर्ता तीन साल में लिख फेंक सकता था।) नहीं, वैसी कोई भीतरी बीबधी मुझ में नहीं थी। मुझ में न कुछ बरतम्प है न सन्देश है। जैसे बोल मेठा है जैसे ही लिख भी जाता हूँ। बहुत धार्मिक धायस प्रमास की मुझे धायत नहीं है। न ऐसा कुछ मेरे पास मामूम होता है कि जिस पर धायस बर्ब किया जाए। पाठकों धीर प्रानोबकों की धीर से जो कभी मुन पड़ता है उस को धगर भुला दिया जाए तो मैं अपने बारे में किसी भूल में नहीं हूँ। धर्पद्रि में जानता हूँ कि मैं नहीं जानता।"

जैनग्रन्थ भी मानते हैं कि सामाजिक धार्मिक धीर राजनीतिक तत्त्वों से उन की रचना का कोई बिधेय दिखाने वाला सम्बन्ध नहीं होता फिर भी कलाकार की हियत से उन पर एक मजबूरी की यह उन के बरतम्प से प्रकट होता है। इस सम्बन्ध में यह कहते हैं —

“इतना जानता हूँ कि जब मेरा लिखना हुआ थुकर हुआ तब मैं बहुत बेहान और बरहान था यहाँ तक कि मरने की बात सोचा करता था। ऐसे में कोरा तलब सिद्धान्त काम नहीं दे सकता, न प्रिय हो सकता है। हर तलब-बाह को मानो संवेदन की कसीटी पर सतरना और अपने को करा साबित करता होता है। जब से प्रथम तलब और मूल तलब है कुछ—इस बीड़ कवन का भी धामद यही सार है। इसी धनिबायेता में से विचार को मानो कहानी बनना पड़ गया। इस से धनिक मैं कुछ नहीं कह सकता।”

बहुत सोचों के निकट बीनेन्र जी गान्धीबादी करके मछलूर हैं पर वह धामद उन का वह रूप है जो कसाकार से धमय है इसलिए उन का कहना है—  
‘लेकिन जिस को धांधीबाह कहते हैं उस का राई रती भी शोक मैं ने अपने दिमाग पर धनुमच नहीं किया है।’

इधर तन्हीं ने जो कहानियाँ लिखी हैं वे उतनी जन-प्रिय नहीं हो सकीं। न वो ने नई कहानी में घाटी हैं न पुरानी कहानियों में। किसी प्रकार के विचार या विवाद से भी उन का कोई सम्बन्ध नहीं है।

अन्ततः काल से यह तर्क चला पा रहा है कि साहित्यकार या कसाकार का व्यक्तिगत जग की क्रतियों से धमय धबका भिन्न-मुखी हो सकता है या नहीं ? (बीनेन्र पर कसम उठाते ही मेरे सामने यह प्रश्न कीर्ण उठ कर खड़ा हो जाता है, क्योंकि बीनेन्र का व्यक्तिगत काफी बटिल है, जब कि उन का साहित्यिक—महां उन के उपमाओं तथा कहानियों से मतसब है—कदाई बटिल नहीं है। हाँ ‘जयवर्मन’ और इधर की कुछ कहानियों को नहीं भिन्न रहा हूँ जिन में बिन्दक बीनेन्र बबरंस्ती अपने सूचनात्मक साहित्य पर सबापि नांठने की चेष्टा करता है, बल्कि उस कार्य में बड़ी हय तक सफल भी हो जाता है।)

विस्व-साहित्य के लिए यह बहुत ही अच्छा रहा कि बिन्दक सामस्याय ने अपने उपमाओं पर सा जाने की चेष्टा नहीं की, उन की कुछ कहानियाँ हैं जिन पर बिगठक सामस्याय एक हृद तक छाए हुए हैं, पर उन में भी वह इतना प्रवेश नहीं कर पाए जैसा कि कहानी वाला जेट तम्बू के अन्दर सिर दासते दासते धारा शरीर ही घुसा से गया था और उस के धसमी धधिबादी को तम्बू के बाहर लड़ा कर दिया था। धास्कर बाह्य के व्यक्तिगत पर हर धाम कई पुस्तकें गई रीसनी दासते हुए निकलती हैं। पर उन का साहित्य धब उठना नहीं पड़ा जाता। न बीनेन्र का व्यक्तिगत उन के साहित्य की छाई में चबता है हाँ उन के साहित्य को जो धी बुरी तरह धरोचने का डर दिखा रही है, वह है उन का दर्शन।

पर क्या जैनग्रन्थ कोई दार्शनिक है ? उन की जो सब से ताजी पुस्तक 'समय और हम' छपी है उसे न पढ़ कर राय कायम करने वाले पाठकों पर (यदि मैं उन्हें पाठक कह सकूँ) यही रोब गाभित होता है । इस प्रश्न के निर्णय में मैं जैनग्रन्थ की विवेचन-पद्धति का ही अनुसरण करूँगा । किसी ने जैनग्रन्थ की से यह प्रश्न किया था—“रबीन्द्र के दार्शनिक विचारों पर सर्वप्रसिद्ध राधाकृष्णन् ने 'फिलासफी ऑफ रबीन्द्रनाथ' पुस्तक लिखी है । इसी तरह कई दूसरे प्रासंगिक और विद्वान भी उन्हें दार्शनिक मानते हैं । क्या उन का कोई विचार-वर्तन ऐसा था जिस के आधार पर उन्हें मूलतः दार्शनिक कहा जा सके ?”

इस पर जैनग्रन्थ की ने यह कहा था— ‘नहीं वह कवि थे । वर्तन था यदि उन का तो कवि का था ।’ यहाँ तक तो स्पष्ट है, पर आगे जैनग्रन्थीय ढंग से सूर का विस्तार करते हुए या कुछ लोग कहेंगे कि सूर का रमन करते हुए उन्होंने ने कहा था— ‘पुष्ट वर्तन के लिए निषेध आवश्यक है । निषेध उन में पर्याप्त है कम है । इसलिए उन के चेहरे को बरबाद करने को रहन-सहन को मानो सब को रहने देने और समाए रखने की सद्यता है । कपड़े परिमाण से अधिक बीसे और आवश्यकता की मात्रा से काफी अधिक । साथ उन के पांजी की याद कीजिए और कल्पना में साने की कोशिश कीजिए उन रबीन्द्रनाथ को जिन का सिर चूटा हो और चूटने लगे हों । कल्पना पछाड़ जा रहेगी और बढ़ न सकेगी । गांधी दार्शनिक नहीं थे महात्मा थे । यों समझिये कि कवि और महात्मा के अन्तर्बीच दार्शनिक होता है ।

इसलिए यदि मैं ‘समय और हम’ के लेखक होने पर भी जैनग्रन्थ को दार्शनिक न मानूँ तो कोई बहुत ब्यापत्ती नहीं करूँगा । रबीन्द्र दार्शनिक नहीं थे जैनग्रन्थ भी नहीं हैं ।

जैनग्रन्थ कविता और महात्मापन के अन्तर्बीच होने का दावा नहीं कर सकते इसलिए वह अपनी परिमाणा के अनुसार भी दार्शनिक नहीं कहना सकते ।

जैनग्रन्थ महात्मापन और कवित्व के अन्तर्बीच नहीं हैं, मने ही कुछ हद तक संस्कार में हों । महात्मा वह होता नहीं चाहते—कम से कम उपन्यास-कहा मियों में नहीं । उन की नायिकाएं बाराबर भंगी बैली जाती हैं । मरता है कि वह एक तरफ ‘समय और हम’ लिख कर जहाँ दार्शनिकों में चिन्तन पाना चाहते हैं वहाँ दूसरी तरफ वह बड़े जोरों से अपने जीवन के तीसरे पहर में (मगवान करे जैनग्रन्थ छतरीबी हों) यथार्थवादी धार्मिकों में अपना नाम निधोन रोशनी के हुरपी में मिलाता चाहते हैं सभी उन्होंने ने राजधानी के एक दण्डेजी ईतिक के संवादवाता से यह कह कर सनसनी पैदा कर दी थी कि वह अपने उपन्यास में

एक पढ़ी-लिखी लड़की को अपनी मायिका बनाता चाहिये जो बस्याकृति को मुरा न समझती हो। उस के बाद काफी समय निकस गया पर वह उपवास लिखा नहीं गया। पर उन की ताजी कहानियों में यह प्रशंसा अवश्य है।

( फिर भी जो घससी जनेन्द्र है वह इन सब से परे है वह बहुत ही एकाकी है क्योंकि उनके हृदय में पीड़ा ही पीड़ा है। मानवता को देखने की ओर न ले जा पान की पीड़ा है। एकाएक वह आप से बात करते-करते स्वयं-मृत के पीछे हो नत हैं फिर सम्भव है कि बंटों यहाँ तक कि रात-भर, उन का पता न भये और फिर वह भ्रम कर आप के पास आएँ क्योंकि स्वयं-मृत तो भगिना बतास पा। वह आप नहीं लगा या लगा तो बहुत छोड़ा। एकाकीत्व दूर नहीं हुआ। जैनेन्द्र जैसे एकाकी ये जैसे ही रह गए। ऐसे ही धुमते-बामते उन के मन में हवा से उड़ कर कोई बीज आ जाता है तब वह कोई कहानी या उपन्यास लिख लेते हैं। पर सब कहानी के बीज उड़ कर कम आते हैं, प्रबंधन की धूल अधिक घाटी है। पर इस में सन्देह नहीं कि जो कुछ भी—बिरोध कर कहानी के क्षेत्र में—जैनेन्द्र ने दिया है, उस के हिन्दी-साहित्य की बड़ी समृद्धि हुई है। )



## जैनेन्द्र की कहानियों में बौद्धिक और दार्शनिक तत्त्व

—डाक्टर रामचरण महेन्द्र

प्रसाद-संस्थान के कहानीकारों में श्री जैनेन्द्र कुमार बिंदिय उल्लेखनीय और साहित्यिक दृष्टि से सर्वाधिक सशक्त कहानीकार हैं जिन्होंने, पचेष्ट लोक-प्रियता प्राप्त की है तथा जो विशेष अध्ययन की वस्तु माने गए हैं।

जैनेन्द्र जी की कहानियों में कथानक का सीमर्य नहीं है। वह साधारण स्तर के पाठकों का ऊपरी मनोरंजन मात्र नहीं करते। केवल विमर्शपूर्ण मात्र के लिए उन्होंने कहानियाँ नहीं लिखी हैं। वे मूलतः एक विचारक हैं। उन में मौलिक विचारों तथा तर्कीय रीति से चिन्तन का गहराई है। प्रत्येक रचना में किसी अनु-मूर्ति की कोई मार्मिक चोट होती है। उनकी दृष्टि मौलिक चिन्तन की गहराई से निकलती है। वह विचारपूर्ण हैं।

एक घातक के सब्यों में “मानव-जीवन और मानव मन को से कर वह विचारते हैं या उन के वैचारिक संवर में जीवन और मन छंटाते हैं—यह कहना कठिन है क्योंकि जीवन में घटनाएं घटती रहती हैं और मन में तदनुकूल प्रत्य या अधिक परिमाण में उनकी प्रतिक्रियाएं भी होती रहती हैं, किन्तु जैनेन्द्र के विचार प्रवाह में घटनाओं का प्रभाव उतना तीव्र नहीं है जितना मन की प्रतिक्रियाओं का। इसका मुख्य कारण यह है कि घटनाओं के पहले भी उन का विचारमग्न जारी रहता है और पीछे भी। हाँ घटनाओं के सम्पर्क से चिन्तन की प्रति कुछ तीव्र हो जाती है। जैनेन्द्र के पास उन के विचार प्रसृत करते हैं। पाशों की दृष्टि के बाद उन की चरित्र-विशिष्टता और विशेषता के कारण कोई विचार मूल निरुपलब्ध हो—इस का बहुत कम प्रभाव होता है।”

बौद्धिक और दार्शनिक तत्त्वों की प्रधानता

जैनेन्द्र की कहानियों में बौद्धिक और दार्शनिक तत्त्वों की प्रधानता है।

मनोविज्ञान उम की आधार-रिखा है। इन विभिन्न और दार्शनिक तत्वों पर ही जैनेन्द्र कहानियाँ लिखते हैं। यही कारण है कि हिन्दी कहानी के क्षम में जैनेन्द्र की अब पहली बार घाए में एक क्रांतिकारी के रूप में उन का स्वागत हुआ था। यह नूतन विद्या की ओर एक प्रयोग था। जैनेन्द्र की ने अपने दार्शनिक व्यक्तित्व का परिचय 'एक रात' की सुमिका में पृष्ठ चार पर इन शब्दों में दिया है—"मैं किसी ऐसे व्यक्ति को नहीं जानता जो मात्र लौकिक हो जो सम्पूर्णता से दार्शनिक व्यक्तित्व पर ही रहता हो। सबके भीतर हृदय है, जो अपने देखता सब के भीतर आत्मा है जो जागती रहती है, जिसे ध्वस्त नहीं है, घाम जमाती नहीं है। सब के भीतर वह है, जो अलौकिक है। मैं वह स्वयं नहीं जानता जहाँ अलौकिक न हो, जहाँ वह कम है, जहाँ परमात्मा का निवास नहीं है? इसलिए आलोचक से मैं कहता हूँ कि जो अलौकिक है, वह भी कहानी तुम्हारी ही है तुम से अलग नहीं है। रोज के जीवन में काम घाने वाली तुम्हारी बानी-पहचानी चीजों का और व्यक्तियों का हवाला नहीं है तो क्या, उन कहानियों में तो वह अलौकिक है, जो तुम्हारे भीतर अधिक वहाँ में बैठा है। जो और भी अनिष्ट और निराम रूप में तुम्हारा अपना है।"

उपरोक्त उपाहारम से जैनेन्द्र के समस्त साहित्य की मूल प्रेरणा के आधार-मूल तत्वों पर प्रकाश पड़ता है। उन का व्यक्तित्व बहुत गम्भीर दार्शनिकों-जैसा है। कहानी के माध्यम में भी उन की मनोवैज्ञानिकता और दार्शनिकता के अनेक तत्व पूरी तरह फैले रहते हैं। नर्म, भीति और ज्ञान के निष्कर्ष उन की कहानियों से अनायास ही निकलने का सकते हैं। कहीं-कहीं तो उन का यह दार्शनिक रूप इतना स्पष्ट हो गया है कि मनोवैज्ञानिकता और रोजकता तक को हानि पहुँची है। प्रोफेसर मेमचार के शब्दों में यह कहना उचित ही है कि मनोविज्ञान की दृष्टि से जैनेन्द्र पर आध्यात्मवादी रंग अधिक बढ़ा हुआ है अब कि अज्ञेय की पर कायदा का। इसी से एक में जीवन को धर्म के आलोक में देखा है, दूसरे में काम के रूप में, एक में आत्मा की मूल को मिला है, दूसरे में शरीर की सृष्टि को।

जैनेन्द्र-स्वयं के कहानीकारों ने नारी को भी उन की दार्शनिक समस्याओं के बीच से उठाया है। 'प्रसाद' ने नारी के मर्म और आदर्श रूप को प्रस्तुत किया तो हमों ने उसके अभाव-वस्तु प्रतीकित अन्तर को। भारतीय बहिष्कृत परम्पराओं की गृहस्था से एकड़ी हुई नारी की आत्मा उन में कराह उठी है पर जहाँ अज्ञेय भारतीय नारी के बिद्रोही रूप को देयना चाहते हैं, जहाँ जैनेन्द्र केवल सहाय्य भूति के संघर्ष से उसके आसु भर पोंछना चाहते हैं। भयवशीकरण बर्मा नारी के परमज रूप को ही अधिक प्रस्तुत कर सके हैं। अपनी कहानियों में जहाँ भयवशी

बाबू चिन्तन-श्रमूत व्यक्तिकार अधिक हैं वहाँ प्रज्ञेय चिन्तनशील ग्रहणशील तथा जैनेन्द्रकुमार चिन्तन-प्रधान मानक हैं।

घपनी चिन्तनशील मानकता के कारण ही जैनेन्द्र जन-साधारण तक उतने व्यापक रूप में नहीं पहुँच पाए बिना कि प्रेमचन्द। विचार-प्रधानता के कारण जैनेन्द्र किसी छिद्र-विधान की चिन्ता नहीं कर सके पर उन की छिद्रहीनता ही उनकी कहानियों का सबसे बड़ा घपनापन है, उन की कथाहीनता ही सब से बड़ी कला है। मनोरंजन नहीं विचारों का उत्थरण ही उन का सब से बड़ा लक्ष्य है।

चरित्र-चित्रण की पहुराई और विचार-प्रधानता जैनेन्द्र की कहानियों की दो प्रमुख विशेषताएँ हैं। वे घपनी कहानी के ढाँचे में मौलिक विचार भर देते हैं। उदाहरण के लिए उनकी कुछ कहानियाँ से लीजिए। 'तत्सुत' 'बहू बेचाप' 'मास सरोवर' 'नीलम देश की राजकन्या' आदि कहानियों में सर्वत्र विचार बोधिता है। प्रत्यक्ष रूप से इन कहानियों में वह एक दार्शनिक के रूप में उभर कर आए हैं। इसी प्रकार 'बुचक' 'मासी' 'ब्याह' 'नवस्मृति' 'परावर्तन' 'सम्बोधन' इत्यादि प्रथम तथा विवाह विषयों की कहानियाँ होते हुए भी मौलिक दृष्टिकोण तथा दार्शनिक गहराई में समृद्ध हैं। ये रचनाएँ चरित्र और वातावरण के मेल से पाठक पर एक सफल विचारारमक मिश्रण का-सा अद्विष्ट प्रभाव छोड़ जाती हैं।

(उन के चरित्रों की एक विशेषता है उन की ग्रहणशक्ति। जैनेन्द्र स्वयं एक ग्रहणशील कलाकार हैं। इसलिए उन की महू चरित्रिक विशेषता उन के चरित्रों में जहाँ-तहाँ मिलती है। अनेक चरित्रों में ग्रहणशक्ति इतनी अधिक रूप में घाती है कि पेसेवर औरतें भी जो रूप-जीवन की सुनी बुकान समझती हैं, व्यक्ति विशेष की मान के प्रति इतना सबल प्रतिरोध करती हैं कि पाठक सन्न रह जाता है।

(जैनेन्द्र की कला का उद्देश्य क्या है? जीवन को बदलने की प्रेरणा उन के पास नहीं है। 'कला-ईश्वर के लिए' यह उन का नायक है। उनका उपन्यास 'मुल्ला' समग्र धार्मिक की ओर एक संशयित संकेत है। जीवन और जगत की दार्शनिक समस्याओं पर सहज और मौलिक विवेचन उन्हीं ने किया है। दिन रात के जीवन और समाज में उठने वाले गूढ़-महान् प्रश्नों का जिस कूटतता से उन्हीं ने समाधान किया है वह देखते ही बनता है। सामाजिक और व्यक्तिगत समस्याओं का निदान अस्पष्ट और रहस्यमय-सा हो गया है।

मनस्तुष्टि विवेचन प्रधान कहानियों के प्रथम स्रोत वे ही हैं। उन्हीं ने चरित्र-चित्रण में मनोविज्ञान का सफल प्रयोग किया है, देखावट और एकरस के मीन मनोविज्ञान और मानसोपचार के तर्कों को से कर वह कहीं-कहीं विमर्श-वा

करते प्रतीत होते हैं। वहाँ वे सतह पर हो रहे जाते हैं। साधु की हठ 'क-पम्पा', 'वसित विष' 'बहु धनुमन्' इत्यादि उन की इस प्रकार की मौखिक कहानियाँ हैं। इन में योग जीवन का भी चित्रण है। उन की कुछ कहानियाँ प्रतीक-सीसी से मिली गई हैं जैसे 'दासुत', 'बहु बेचारा', 'भास सरोवर' इत्यादि। इन में उन का जीवन का अनुभव स्वतंत्र और मौखिक चिन्तन विचार-रस पूरे सौष्ठव पर पाया जाता है। उनका कथा-साहित्य उदात्त मानवीय सत्यों से परिपूर्ण है।

बाबू चिन्तन-असूत व्यक्तिकार अधिक हैं वहाँ प्रत्येक चिन्तनशील पाईवादी तथा जैनेन्द्रकुमार चिन्तन-प्रधान मानक हैं।

अपनी चिन्तनशील भावुकता के कारण ही जैनेन्द्र जन-साधारण तक उठने व्यापक रूप में नहीं पहुँच पाए जिसने कि प्रेमचन्द। विचार-प्रधानता के कारण जैनेन्द्र किसी शिल्प विभाग की चिन्ता नहीं कर सके पर उन की सिम्पलीनता ही उनकी कहानियों का सबसे बड़ा अनापन है। उन की कलाहीनता ही सब से बड़ी कला है। मनोरंजन नहीं विचारों का उत्थरण ही उन का सब से बड़ा लक्ष्य है।

चरित्र चित्रण की गहराई और विचार-प्रधानता जैनेन्द्र की कहानियों की दो प्रमुख विशेषताएँ हैं। वे अपनी कहानी के ढाँचे में मौलिक विचार भर देते हैं। उदाहरण के लिए उनकी कुछ कहानियाँ से लीजिए। 'उत्सव' 'बहु बेचारा' 'सात सरोवर' 'मीसम बेघ' की 'राजकन्या' आदि कहानियों में सर्वत्र विचार बोधिलता है। (प्रत्यक्ष रूप से इन कहानियों में वह एक दार्शनिक के रूप में उभर कर आए हैं। इसी प्रकार 'बुद्ध', 'धामी' 'ब्याह' 'विमृति' 'परमेश्वर' 'सम्बोधन' इत्यादि प्रथम तथा विवाह विषयों की कहानियाँ होते हुए भी मौलिक दृष्टिकोण तथा ठाठिक गहराई में अत्युत्तम हैं। ये रचनाएँ चरित्र और वातावरण के मेल से पाठक पर एक सफल विचारालोक निबन्ध का-सा प्रथित प्रभाव छोड़ जाती हैं।

(उन के चरित्रों की एक विशेषता है उन की अर्थवादिता। जैनेन्द्र स्वयं एक अर्थवादी कथाकार हैं। इसलिए उन की यह चरित्रिक विशेषता उन के चरित्रों में अहाँ-तहाँ मिलती है। अनेक चरित्रों में अर्थवादिता इतने अद्वितीय रूप में प्राप्ती है कि पेशेवर धोरते भी जो रूप-जीवन की सुनी दुकान खोली हैं, व्यक्ति विशेष की माँग के प्रति इतना सबल प्रतिरोध करती हैं कि पाठक सन्न रह जाता है।

(जैनेन्द्र की कला का उद्देश्य क्या है? जीवन की बदलने की प्रेरणा उन के पास नहीं है। 'कला-ईश्वर के लिए' यह धन का नारा है। उनका उपन्यास 'सुखदा' समग्र आदर्श की ओर एक सशक्त संकेत है। जीवन और मृत्यु की दार्शनिक समस्याओं पर सहज और मौलिक निवेदन उन्होंने किया है। बिन पत के जीवन और समाज में उठने वाले गूढ़-गहन प्रश्नों का जिस कृशमता से उन्होंने समाधान किया है वह देखते ही बनता है। सामाजिक और व्यक्तिगत समस्याओं का निदान अस्पष्ट और रहस्यमय-सा हो गया है।

मनस्तरङ्ग विशेषण प्रधान कहानियों के प्रथम लेखक वे ही हैं। उन्होंने चरित्र-चित्रण में मनोविज्ञान का सफल प्रयोग किया है। प्रत्यक्ष और एहसर के बीच मनोविज्ञान और भावसोपचार के तत्त्वों की से कर वह कहीं-कहीं पिसबाड़-वा

करते प्रतीत होते हैं। वहाँ वे सतह पर ही रह जाते हैं। 'साधु की हठ' 'कपट्या', 'असित चित्त' 'बहु अनुभव' इत्यादि उन की इस प्रकार की बौद्धिक कहानियाँ हैं। इन में योग जीवन का भी चित्रण है। उन की कुछ कहानियाँ प्रतीक-शाली में मिली गई हैं जैसे 'साधु', 'महर्षि', 'साधु सरोवर' इत्यादि। इन में उन का जीवन का अनुभव स्वतंत्र और मौलिक चिन्तन विचार-रस पूरे सौष्ठव पर पाया जाता है। उनका कथा-साहित्य उदात्त मानवीय सारों से परिपूर्ण है।

## ८ 'समय और हम'

जीवन की विविध समस्याओं के प्रति एक  
साहित्यकार और भारतीय का दृष्टिकोण  
—बी मोरार जी बेसाई

'समय और हम' ग्रन्थ हिन्दी के प्रसिद्ध साहित्यकार बी बेंनेमकुमार के आत्मचिन्तन का फल है, इसमें उन्होंने ने मानव-ज्ञान और मानव-परिस्थिति से सम्बन्धित एक या दो नहीं पूरे बार ही पचास प्रश्नों के उत्तर दिए हैं। इन्होंने विस्तार और इतनी बारीकी से जीवन के प्रति अपना दृष्टिकोण निर्धारित करना बड़े साहस का काम है और सतरे से खासी नहीं। लेकिन लेखक ने सतरे की परवाह नहीं की है। प्रश्न चाहे आत्मा और परमात्मा से सम्बन्ध रखता हो या कस्मीर में भारतीय सेनाएँ भेजने के घोषित से मेस्मरिज्म से या साम्प्रदाय से उन के पास उस के लिए उत्तर है। इस प्रकार उन्होंने ने अधिकार पूर्वक बीच विज्ञान, धर्म-शास्त्र राजनीति बर्धन मनोविज्ञान समाज-शास्त्र शिक्षा आदि विषयों की गुरुत्वों पर बलवत्त्व दिए हैं, और अपने प्रश्नकर्ता की शंकाओं का स्पष्ट और सुन्दर भाषा में समाधान करने का पूरा प्रयत्न किया है।

इन बलवत्त्वों की बीसे का रसता स्वीकार करना आवश्यक नहीं है। यह शक्य है जीवन की विविध समस्याओं के प्रति एक साहित्यकार का और एक भारतीय का दृष्टिकोण और यह दृष्टिकोण है जीवन में समन निष्ठ और दामित्व का मनुष्य और मनुष्य के बीच प्रेम और सहार्थ कर। सत्कार और मानव-बोधन की समस्याओं पर यह उन मूर्खों के प्रयोग का प्रयास है जिन के लिए माँही बी बिदे और जिन के लिए उन्होंने ने कार्य किया। और यह प्रयास स्तुत्य है।

# जैनेन्द्र की अन्तर्दृष्टि में 'समय और हम'

—डा० विजयेन्द्र स्नातक

[ १ ]

एक सीमित काल खण्ड में बीते हुए भी हम काल की व्यापक समग्रता से सर्वथा असम्पृक्त तथा दायवत चेतना से विसर्प नहीं रह सकते। जो संकाय समस्याएँ प्रायः हमें सप्रश्न बनाती हैं भौतिकालिक सत्य से सम्भूत होने के कारण प्रतीत अनागत और वर्तमान के भेद को धीर कर सदा इसी प्रकार प्रश्नों को जन्म देती रही हैं। हम समाधान के आकांक्षी रहे हैं धीर कौन कह सकता है कि जाने वाले कल में वे ही प्रश्न हमें आकुस नहीं करेंगे जो आज हमारे अज्ञित ज्ञान एवं विवेक को चुनौती दे रहे हैं। जैनेन्द्र ने अपनी सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि से ऐस ही चिरन्तन प्रश्नों के आभ्यन्तर में प्रवेश किया है तथा अविश्व-चेतना एवं काल खण्ड से ऊपर उठ कर उनका विवेक सम्पन्न समाधान ढूँढ़ने का प्रयास किया है। 'समय और हम' दीर्घक कवच सम-सामयिकता का ही सूचक नहीं है

१—'समय और हम', स. / जैनेन्द्रकुमार, प्रकाशक प्रोफेसर प्रकाशान, दिल्ली यूनिवर्सिटी, दिल्ली। (जबना मरण मुद्रा विषय और कल-समय)

सिद्धान्त—'समय और हम' सारे ज्ञान की दृष्टि का विस्तृत दृश्य है जिस में सारे ज्ञान की पद-समीची प्रश्नों के उत्तर संश्लिष्ट किए गए हैं। प्रश्न वर्तमान की बीनेन्द्र कुमार मुद्रा और समाधान है श्री जैनेन्द्रकुमार। सारा पर्यायिकारी में प्रश्न की प्रशस्ति लिखी है। उन के मत में जैनेन्द्र की बिना प्रयोग के नहीं लिखने, परन्तु प्रयोग के स्वागत का सहोदर है। जाति का नीरव भाव से प्रयोग और स्वयम् की देन नहीं बनती है। उनकी दार्शनिकता के सारे भौतिक कौतुहल की है, शास्त्र की कोई प्रतिस्ति या स्वयं राष्ट्र होता है। उनको प्रतिभा में उनकी रोनी कोन बनाती है। प्रतिष्ठा बहुत मजबूत होता है। जैनेन्द्र की कोई सत्य प्रकाश नहीं है। अपनी बात का प्रतिष्ठा करने के लिए वे बुद्धि को नहीं रखते, क्योंकि उनका अर्थ कोई पक्ष नहीं है। वह सिद्ध उन के निष्कर्ष में बुद्धि की प्रशस्ति के सत्य-सत्य विषय का प्रकाश और रोनी की सहजता होती है।



बल् मानवात्मा के धारक प्रश्नों और जिज्ञासाओं का समाधान करने वाला अध्ययनीय एवं विवेचनीय ग्रन्थ है। विज्ञान ग्रन्थ में प्रश्नोत्तरों का ऐसा नाम कसा गया है कि मेरे सबुद्ध अति सामान्य योग्यता वाले पाठक को उस के तार्किक परास को पकड़ पाना कठिन हो जाता है। प्रश्नकर्ता के मन में मूल प्रश्न एक रहता है किन्तु समावादा बीमन्त्र उसे साक्षाद्-प्रश्नाका में ढीला कर पूरा बट-भूल बना देते हैं।

मैं अपनी बात कहो वे घुक कर्क यही मेरी कठिनाई है। प्रश्नों के अनुक्रम का अनुसरण मेरी सामर्थ्य से बाहर की बात है। साईं बार सी प्रश्नों का उत्तर बीमन्त्र के बुते की ही बात हो सकती है, साधारण पाठक तो सामर्थ्य उन्हें पढ़ने का भी श्रम न सुटा सकेगा। हाँ मैं कुछ विवादास्पद प्रश्नों को विचार के लिए प्रस्तुत करना चाहूँगा जिनके समाधान से बीमन्त्र का विचारक अपने उत्कर्ष पर ललित होता है। किन्तु उन प्रश्नों को प्रस्तुत करने से पहले मैं दो बार कुछ पुस्तक की खेती और स्वल्प के बारे में कहना चाहता हूँ। यह विषयात्तर है किन्तु ग्रन्थ की मरिमा के उद्घाटन में इसे धराया नहीं समझा जाना चाहिए।

प्रश्नकर्ता श्री बीरेन्द्र कुमार गुप्त के मन में बीमन्त्र की मूलतः विचारक हैं। उन के कथा-साहित्य के मूल में भी विचार का बीज गमित रहता है। कथा के पात्र स्वयं भाव रहते हैं। पात्रों का चरित्र-विकास प्रायः विचार के साथ ही होता है। घटन-स्पर्शी घृष्ट-मंमोर विचारों की व्यञ्जना करने के कारण बीमन्त्र की खेती में एक प्रकार की विलम्बता दृष्टि गत होती है जो अन्य किसी कथा लेखक में नहीं मिलती। प्रश्नकर्ता के मन में तो बीमन्त्र उन सत्यों की प्रेरणा से लिखते हैं जिन का साक्षात्कार जहाँ ने अपनी बुद्धि से नहीं—सम्बुद्धि से—धर्मा के सहनसम में किया है। प्रश्न-कर्ता की यथा समर्थ भावना को मैं ठेठ पतुचाए बिना यह कहना चाहता हूँ कि अनाविज सत्य दृष्टि समन्वित हो कर अथवा सत्य के साक्षात्कार से अनुप्राणित हो कर ही बीमन्त्र ने इस प्रश्नों का उत्तर दिया है ऐसा मानने को मेरा मन तैयार नहीं होता। अनुसूत और अभीष्टा से अलग निरपेक्ष वस्तु सत्य की प्राप्ति होती है, यह कहना भी संदिग्ध की रमी कारण है। प्रतिपादन का धार्मिक खेती का कुछ मानना चाहिए, उस क साथ सत्य

‘सत्य और हम’ नाम अधो में विवक्षित है। प्रथम अध्याय परमार्थ वर्णन ईश्वर आत्मा आदि सत्य अभावों में विवक्षित है। द्वितीय अध्याय परमार्थ की विचारधारा से सम्बन्ध है। इस में भी अभाव है। तृतीय अध्याय भारत की समस्याओं पर प्रकाश डालता है, इस में १४ अध्याय है। अन्तर्गत अध्याय से सम्बन्ध रखता है, इस में १६ अध्याय है। यही ग्रन्थ का बाह्य परिचय है।

का साक्षात् दर्शन भी समायास उपसम्भ होता हो यह आवश्यक नहीं है। दूसरी बात में यह कहना चाहता हूँ कि इन प्रश्नों का समाधान करने में जैनम्न का रूप सर्वथा शास्त्र पराङ्मुख रहा है। ऐसा भी मैं स्वीकार करने को तैयार नहीं। जैनम्न शास्त्रवेत्ता, एकेडेमेसियन, नहीं हैं, यह बात इन के स्वतः स्फूर्त चिन्तन को ध्याने लाने के लिए अवसर कही जाती है किन्तु भारतीय तत्त्व चिन्ता से इन का गहरा परिचय है और उस के मन्तव्यों को उन्होंने भी अपनी विचारणा में पिरोया भी है। पश्चिमी दर्शन की प्रचलित माय्यताओं के संकेत इन के उत्तरों में स्वान-स्वान पर मिलते हैं। अतः उन्हें ज्ञापि-मुनि के आसन पर न बिठा कर विवेकशील विचारक एवं चिन्तक ही मानना चाहिए। हाँ शास्त्र-सासन से जैनम्न बचकर सोचते हैं। लिखते और बोलते हैं इस में कोई सन्देह नहीं है। यह इन का मौलिक गुण है।

तीसरी बात मुझे यह कहनी है कि जैनम्न अपने समाधान में वस्तुनिष्ठ न होकर आत्मनिष्ठ हैं। अधिक रहे हैं। उन्होंने ठीक युक्ति, प्रमाण का आश्रय न लेकर बुद्धि-विवेक पूर्व चिन्तन का आश्रय लिया है। अतः उन के उत्तरों को समायास स्वीकार करने की सहज प्रेरणा नहीं होती। जैनम्न के उत्तर धर्मों में सहज होने पर भी प्रतिपाद के प्रचलन पर कुछ और कठिन लगते हैं। हाँ बौद्धिक प्रचलन पर बहुत और मुक्त-जीवी के लिए मैं उन में बड़ी गुंजाइश पाता हूँ। मुझे अनेक उत्तरों से जूझने की इच्छा हुई है और तथा है कि जैनम्न के समस्त प्रश्न आत्मोन्निष्ठ ही हुआ है किन्तु परास्त नहीं हो सका। अपने चिन्तन या मनन से जैनम्न अन्तिम सत्य को कीर्तित कर पाने में शायद पूरी तरह समर्थ नहीं हुए हैं।

चौथी बात यह है कि जैनम्न ने 'समय और हम' के प्रश्नों को बड़ी सहजता से ग्रहण किया है। प्रश्न चुनौती नहीं होता—विज्ञाता का ही सध्य रूप है। प्रश्न उत्तरदाता के प्रति मात्र जहीपक है समायाता के मर्म को खूने और कुदेबने का साधन मात्र है। यदि प्रश्न में समित जहीपन को धारण और आश्रय से ग्रहण किया जाय तो प्रश्न जो जाता है और समायाता ब्रह्मा मात्र रह जाता है। जैनम्न की प्रखर बुद्धि का वैभव तो इन प्रश्नोत्तरों में है ही किन्तु इन में जो तरह अनौपचारिक समृद्धि में मिलता है वह है विचार-विवेचन में तटस्थता। तटस्थ रह कर प्रश्न के आश्रय में प्रवेश करने की जैनम्न की अपनी मोहक रीति है—समायाता पक्षधर न बने और 'उत्तर पक्ष' की स्थापना कर सके यह बड़ी बात है। प्रश्न को सुमन्यनी की रीति भी जैनम्न की सव्या मौलिक है। वे उभयपक्ष से विचलित नहीं होते उल्लस के पक्ष में स्वयं रीति करते हैं, फिर

वरन् मानवार्थमा के शास्त्रतः प्रसन्नो धीर विज्ञासाधो का समाधान करने वाला प्रथम्यनीय एवं विवेचनीय ग्रन्थ है। विज्ञान ग्रन्थ में प्रसन्नोत्तरो का ऐसा बात फैला हुआ है कि मेरे सबुद्ध प्रति सामान्य योग्यता वाले पाठक को उस के तालिक परावर्तन को पकड़ पाना कठिन हो जाता है। प्रश्नकर्ता के मन में भ्रम प्रश्न एक रहता है किन्तु समाधाना जैनग्रन्थ उसे साक्षात्-प्रशासा में फैला कर पूरा बट-बुरा बना देते हैं।

मैं अपनी बात कहाँ से शुरू करूँ वहीं मेरी कठिनाई है। प्रश्नों के अनुक्रम का अनुसरण मेरी सामर्थ्य से बाहर की बात है। साईं बार ही प्रश्नों का उत्तर जैनग्रन्थ के बूते की ही बात हो सकती है। साधारण पाठक तो शायद उन्हें पढ़ने का भी बर्ब न कूटा सकेगा। हाँ मैं कुछ विवादास्पद प्रश्नों को विचार के लिए प्रस्तुत करना चाहूँगा जिसके समाधान में जैनग्रन्थ का विचारक अपने उत्कर्ष पर लक्षित होता है। किन्तु इन प्रश्नों को प्रस्तुत करने हैं पहले मैं दो-चार उद्धृत पुस्तक की सूची और स्वल्प के बारे में कहना चाहता हूँ। यह विषयान्तर है किन्तु ग्रन्थ की परिभा के उद्घाटन में इसे छोड़ा नहीं समझ जाना चाहिए।

प्रश्नकर्ता श्री श्रीरेणु कुमार गुप्त के मत में जैनग्रन्थ की मूलतः विचारक है। उन के कथा-साहित्य के मूल में श्री विचार का बीज गमित रहता है। कथा के पात्र व्याज मात्र रहते हैं। पात्रों का चरित्र-विकास प्रायः विचार के साथ ही होता है। घटन-स्पर्शी दृष्ट-समीर विचारों की व्यञ्जना करने के कारण जैनग्रन्थ की सूची में एक प्रकार की विलक्षणता दृष्टिगत होती है जो अन्य किसी कथा लेखक में नहीं मिलती। प्रश्नकर्ता के मत में तो जैनग्रन्थ उन सत्यों की प्रेरणा से सिद्धते हैं जिन का साक्षात्कार उन्होंने अपनी बुद्धि से नहीं—सम्बुद्धि से—अन्तर के गहनतम में किया है। प्रश्नकर्ता की भ्रष्ट समवेत भावना को मैं ठेक पढ़ूँचाए बिना यह कहना चाहता हूँ कि अनामिक सत्य-दृष्टि समन्वित हो कर अथवा सत्य के साक्षात्कार से अनुप्राणित हो कर ही जैनग्रन्थ ने इस प्रश्नों का उत्तर दिया है ऐसा मानने को मेरा मन तैयार नहीं होता। अनुभूत और धर्मीयता से अलग निरपेक्ष वस्तु सत्य की प्राप्ति होती है, यह कहना भी संदिग्ध को स्वीकारना है। प्रतिपादन का आर्थिक सूची का गुण मानना चाहिए, उस के साथ सत्य

‘समय और हम’ बार बारों में विमल है। प्रश्न कथक, परमार्थ अर्थार्थ ईश्वर धारणा आदि सप्त अन्वयों में विभाजित है। द्वितीय अन्वय, चरित्र की विचारधारा से सम्बन्धित है। इस में भी अन्वय है। तृतीय अन्वय भारत की समस्याओं पर प्रकाश डालता है इस में १५ अन्वय हैं। चतुर्थ अन्वय ‘अर्थशास्त्र’ से सम्बन्धित रहता है इस में १६ अन्वय हैं। यही ग्रन्थ का आद्य परिचय है।

का साक्षात् दर्शन भी घनायास अपनाना होता हो यह आवश्यक नहीं है। दूसरी बात में यह कहना चाहता हूँ कि इन प्रश्नों का समाधान करने में जैनधर्म का रूप सर्वथा शास्त्र पराङ्मुख रहा है। ऐसा भी मैं स्वीकार करने को तैयार नहीं। जैनधर्म शास्त्रवेत्ता, एकेडेमीशियन नहीं हैं, यह बात हम के स्वतः स्फूर्त चिन्तन को धार्य करने के लिए प्रशस्त करी जाती है किन्तु भारतीय तथा चिन्ता से हम का गहरा परिचय है और इस के मन्त्रियों को जहाँ ने अपनी विचारणा में पिरोया भी है। पश्चिमी ब्रह्म की प्रथम भाष्यताओं के समेत हम के उत्तरों में स्थान-स्थान पर मिलते हैं। अतः उन्हें आपि-भुक्ति के शासन पर न बिठा कर विवेकशील विचारक एवं चिन्तक ही मानना चाहिए। ॥ शास्त्र शासन से जैनधर्म बचकर सोचता है, निकट और बोलता है, इस में कोई संदेह नहीं है। यह हम का मौलिक गुण है।

तीसरी बात मुझे यह कहनी है कि जैनधर्म अपने समाधान में अस्तुनिष्ठ न होकर भास्तिनिष्ठ ही अधिक रहे हैं। जहाँ ने तर्क, युक्ति, प्रमाण का आश्रय न लेकर बुद्धि-विवेक पूर्व चिन्तन का आश्रय लिया है। अतः हम के उत्तरों को यथावत् स्वीकार करने की सहज प्रेरणा नहीं होती। जैनधर्म के उत्तर चीनी में सहज होने पर भी प्रतिपाद्य के प्रचलन पर कुछ और कठिन लगते हैं। हाँ बौद्धिक प्रचलन पर सहज और मुक्तता चीनी के लिए मैं हम में बड़ी मुँजाइश पाता हूँ। मुझे अनेक उत्तरों से पूछने की इच्छा हुई है और सवा है कि जैनधर्म के समस्त प्रश्न भास्तिनिष्ठ तो हुआ है किन्तु परास्त नहीं हो सका। अपने चिन्तन या मनन से जैनधर्म अन्तिम सत्य को कीमति कर पाने में धार्य पूरी तरह समर्थ नहीं हुए हैं।

चौथी बात यह है कि जैनधर्म ने 'समय और हम' के प्रश्नों को बड़ी सहजता से ग्रहण किया है। प्रश्न कुनीची नहीं होता—विज्ञाता का ही अल्प रूप है। प्रश्न उत्तरदाता के प्रति मात्र उद्दीपक है समाधाता के धर्म को सूने और क्रूरवने का साधन मात्र है। यदि प्रश्न में समित उद्दीपन को धार्य और धार्य से ग्रहण किया जाय तो प्रश्न तो जाता है और समाधाता ब्रह्मा मात्र रह जाता है। जैनधर्म की प्रश्न बुद्धि का अर्थ तो इन प्रश्नीयताओं में ही किन्तु हम में जो तरह घटनी पूर्व समुद्धि में मिलता है वह है विचार-विश्लेषण में तटस्थता। तटस्थ रह कर प्रश्न के आश्रय में प्रवेश करने की जैनधर्म की अपनी मोहक घटी है—समाधाता पञ्चमन बने और 'उत्तर पक्ष' की स्थापना कर सके यह बड़ी बात है। प्रश्न को मुक्तमाने की चीनी भी जैनधर्म की सर्वथा मोहित है। वे अन्तिम से विचलित नहीं होते अन्तिम के वेच के स्वयं पैदा करते हैं, फिर

फिर उनमें फँसते निकलते हैं। यह सुसम्झने की समझी स्वाभाविक प्रक्रिया बन गई है। चूंकि अपने समाधान में सतह से भीगे पँठकर अंततः तक जाने का मोह ने छोड़ नहीं सकते इस लिए उत्तम और वैश्व से उन्हें परेशानी नहीं होती—पाठक भले ही उस उत्तम में फँस कर व्यग्र हो जाय। यही कारण है कि एक प्रश्न के उत्तर में जैनेन्द्र ने धन्य और वाच्य में से अनेकानेक प्रश्न उत्पन्न किए हैं और उन के उत्तर भी फैलाए हैं।

पाँचवीं बात भी कहना अप्रासंगिक न होगा। जैनेन्द्र ने अपने प्रश्नात्तरों में यह और बहुत के सम्बन्ध तथा धर्म की स्थान-स्थान पर चर्चा की है। यह मैं वे व्यक्ति का पुनः अस्तित्व सम्निविष्ट मानते हैं। मात्र सूक्ष्म चेतना नहीं। वह यह या व्यक्ति को नितान्तता से परे सापेक्षता की सीमा में देखना चाहते हैं। उन के मन में नितान्तता (एकसक्ताविचरित) के लिए कोई स्थान नहीं है अतः परस्परता और सापेक्षता को बड़े धातु पूर्वक ग्रहण किया गया है। वर्तमान अहिंसा प्रेम कथना युद्ध आदि सभी तत्त्वों के साथ सापेक्षता की स्थिति उन्होंने न अनिर्धार्य रूप से मानी है। लेकिन मुझे याद है कि माइन्स्टाइन के जिस सापेक्षवाद को जैनेन्द्र अपनी विचार-सरणी में ही नहीं बरन् अप्रच्युत पर समग्र भाव में फलित और प्रतिफलित करना चाहते हैं वह सिद्धान्त भाव परिचय में उस समारोह के साथ साक्षात् नहीं रहा है। तर्क मूलक भाववाद ने सापेक्षवाद से अधिक स्मूल कटीटी प्रस्तुत कर सत्य की परीक्षा को वैज्ञानिक बनाया है। मैं जैनेन्द्र के दर्शन में तर्क मूलक भाववाद की स्थापना नहीं चाहता और न इस सिद्धान्त को उपाय समझता हूँ किन्तु सापेक्षवाद को प्रमूख ग्रहण करने पर मुझे विस्मय प्रबल है। मोटे तौर पर ऐन्द्रिय अनुभूति को यदि प्रतीति का बरतन बनाया जाय तो भी धार्मिक कथन या सत्य के लिए अब कास नहीं रहता। तर्क मूलक भाववादियों ने कहा कि इसी लिए विवाद रहित सत्य को माना ही नहीं जा। नीति-शास्त्र और धर्म-शास्त्र में बहूत सत्तों को भी ज्यों का त्यों स्वीकार न करने में तर्कमूलक भाववादियों का यही प्रबल तर्क रहा है कि जो सत्य ऐन्द्रिय नहीं उसे पूर्ण कैसे मान लिया जाय। सापेक्षता न प्रस्थाप्य करने के कारण जैनेन्द्र ने प्रायः सभी प्रश्नों के उत्तर में इस का प्रयोग किया है विशेषतः काम प्रेम नारी यौन-समस्या आदि के विषये जब तो सापेक्षवाद से हरे कर ही निकलते हैं।

[ २ ]

‘समय और हम की प्रतिपादन सीरी के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त



है—महं बड़ चेतन में व्याप्त 'मैं' या 'मैं पन' की भावना है जो पूर्ण (बड़ा) से भिन्न प्रसंग रूप में व्यक्ति में स्फुरित होती है। दूसरा तथ्य है—महं, निषेध और स्वीकार दोनों प्रकार की प्रवृत्तियों है सम्मिश्र होता है। ये दोनों प्रवृत्तियाँ हिंसा और अहिंसा द्वारा व्यक्त होती हैं। तीसरा तथ्य है—महं का सामूहिक रूप सम्प्रदाय बाह्य समाज और समूह द्वारा प्रकट होता है। यदि महं का संस्कार कर लिया जाय तो संसार से मुक्त की निमीषिका को हटाया जा सकता है। चौथा तथ्य है—महं जस्तुतः प्रसंग मान होने से सेयी—बड़ा का प्रसंग रूप है और समग्रता के साथ जुड़ा हुआ है। दोनों में सेयी और सेयी में पारस्परिकता प्रतिबोध है। उसके बिना महं का पूर्ण विकास सम्भव नहीं।

इन चारों तथ्यों के समुचीनन से महं का जो स्वरूप निर्धारित होता है वह न तो दार्शनिक है और न व्यावहारिक। सूक्ष्म चेतन्य का प्रतीक दण्ड निष्ठ महं जैनेन्द्र को स्वीकार्य नहीं। य तो बड़ चेतन में समान रूप से व्याप्त व्यक्ति की धारणा को महं के रूप में देखा जाहूँ है। बड़ का व्यक्तिगत अंतर्द्विष्य है किन्तु संघर्ष और विकास के साथ भी महं की प्रतीति उसे नहीं होती अतः समग्र में से समुद्भूत होने पर भी उसकी महंता चेतन प्रकृष्टा से भिन्न कोटिक है। इन दोनों चारों का नेत्र जैनेन्द्र ने प्रदर्शित नहीं किया। 'सब अस्मिन् बड़ा' की दार्शनिक भावना में जो प्रकृत है वह जैनेन्द्र में नहीं है—अतः दार्शनिक भित्ति पर मैं जैनेन्द्र के महं चिन्तन को खड़ा करने का स्पष्ट विरोध करता हूँ। रामानुज मन्त्र प्रादि दार्शनिकों ने ब्रह्म-चिन्तन में महं को जिस रूप में जीव (चेतन) का पर्याय स्वीकृत किया अथवा साक्ष्य दर्शन में जीवार्त्मा को महं के रूप में देखा गया वसा मत जैनेन्द्र का चिन्तन नहीं है अतः महं की भीमता में प्रकृत वेदान्त अथवा विशिष्टाद्वैत प्रादि की दार्शनिक सरणि का अन्वेषण भी व्यर्थ होगा। मैं रामानुजाचार्य की 'अग्नि विन्दु और 'अग्नि स्फूर्ति' की कल्पना से किसी हद तक इस विचार-वाद्य का नेत्र बैठ जाता है। किन्तु महं का व्यापक विस्तार करके जैनेन्द्र ने उसे उभरा गया रूप दे दिया है।

सामूहिक या समष्टिगत महं की स्थापना जैनेन्द्र के विचार-दर्शन का नया रूप है। महं को समष्टियुक्त बनाने में मूल अहंकार या सैकालिक प्राग्रह को स्थान देना चाहिए था। जैनेन्द्र ने अहंकार या प्राग्रह को हटा कर महं को बदाबिद् एक विचार-वाद्य का पर्याय माना है। कहना तो सुन्दर है किन्तु दर्शन की कसौटी पर इस का निर्वाह असम्भव है। राष्ट्रवाद, नृजीवाद समाजवाद साम्यवाद में सिद्धान्त परवाद का प्राग्रह नहीं तो क्या है। जैनेन्द्र

जैसे सामूहिक ग्रह की संज्ञा देते हैं वह वायु का आग्रह मात्र है और कुछ नहीं। यदि इसी आग्रह को स्व-परता से समर्पण से सम्बन्धित कर दिया जाय तो यह सीधा पड़ता है और वायु की बड़ता के सम्बन्धित होने से व्यक्ति या समष्टि का ग्रह समग्रता की ओर अग्रसर होता है। इस मोटी-सी बात को 'सामूहिक ग्रह' के घटा टोप में ढकने की क्या आवश्यकता है? वायु सिद्धांत या निश्चित विचार के आग्रह को समष्टिगत ग्रह की संज्ञा धर्म विचारक या दार्शनिक ने नहीं दी है, जैनधर्म-दर्शन की यह वृत्त स्थापना समझी जानी चाहिए।

ग्रह को धर्म स्वीकार करने पर जैनधर्म ने संघी कैसे माना है वह ध्यान देने योग्य है। संघी धर्म का प्रयोग जैनधर्म ने नहीं किया किन्तु मैं समझता हूँ कि यदि धर्म का अस्तित्व है तो संघी अनिवार्य रूप से होना चाहिए। (जैनधर्म ने धर्म-ग्रह से धर्म को वेद धर्म से व्यपहत किया है।) धर्मित सृष्टि का पसार बड़ा और बड़ बेतमय जबतक जैनधर्म का संघी होना चाहिए। धर्मित वर्तन में धर्म की सर्वत्र स्थिति होने से 'भौतिक प्रसार' को संघी नहीं माना गया किन्तु जैनधर्म की भवता में व्यक्ति-ग्रह से बाहर जो कुछ सृष्टि में है वह संघी (वेद) है। धर्म-ग्रह को अपने विकास और प्रसार के लिए समग्रता से जुड़ा रहना चाहिए और इस जोड़ने की क्रिया में पारस्परिकता को स्थान दिया गया है। जैनधर्म कहना यह चाहते हैं कि ग्रह का विकास अपने भीतर की आवश्यकता में नहीं—बाहर की पारस्परिकता और समग्रता में है अर्थात् सापेक्षिकता को मान कर ग्रह को बढ़ना होगा। पारस्परिकता और सापेक्षता का यह आग्रह मुझे ग्रह की धारमता के विकास में प्रयोजनीय प्रतीत होता है। यह कल्पना यद्यपि नयी नहीं है किन्तु व्यक्ति-ग्रह या व्यक्ति बेतना की समग्रता को स्थापित करने की दृष्टि से उपाय है। जैनधर्म ने इसका उल्लेख अनेक स्थानों पर किया है और पारस्परिकता पर जोर देने का कारण यही है कि व्यक्ति-ग्रह एकान्तता (एकनवनाशिकमैस) अज्ञात में अज्ञान से बचा रहे। पारस्परिकता के लिए धर्म का सहकार अपेक्षित है बड़ा और जीव, जड़ प्रकृति एवं मानवोत्तर प्राणि जगत् तथा मानव-मानव हैं। जैनधर्म ने ग्रह के संदर्भ में ग्रहधर्म धर्म कहा है। ग्रहधर्म को ग्रहधर्म का विशेष बताने हुए ग्रहधर्म धर्म को भी सर्वथा नया धर्म प्रदान किया गया है। धारमनीयता या धारमरति (धारमभावना) ग्रहधर्म है और अपने धर्म का सबके लिये मुक्त दान ग्रहधर्म है। बड़ा धर्म से कहावित् जैनधर्म का धारम्य समग्र है जो बराबर रूप में व्याप्त है बड़ी बड़ा है और इस के लिए अस्मिता होकर समर्पण ग्रहधर्म है। इस धर्म को पाठक ग्रहण करता है जानता है या



सम्भावना से समझ भी सकता है, इसकी जिम्मा जैनेन्द्र को है ऐसा मुझे नहीं मयता। हाँ होनी चाहिए, ऐसा मैं मानता हूँ।

जैनेन्द्र का 'महं तत्त्व विमर्श' चिन्तन की मौलिक सम्भावनाओं को उद्घाटित करने वाला है। दर्शन का गूढ़ ग्रह जैनेन्द्र के व्यावहार-दर्शन में जाना-पहचाना प्रचलित बन कर आता है, अतः उसे समझने के लिए तत्त्व चिन्ता कम और विचार चिन्तन अधिक अपेक्षित है। व्यक्ति की चेतना को महं तक सीमित बनाने वाले भारतीय धार्मिक दर्शनों का अतिक्रमण कर जैनेन्द्र ने व्यक्ति के पूज्य अस्तित्व को महं की मर्यादा में समाविष्ट किया है। आत्मा के अस्तित्व की स्थापना में चेतन सत्ता का आधार अनिवार्य है। मौलिक सत्ता मात्र ही महं-चेतना का समर्पण नहीं हो सकता किन्तु जैनेन्द्र ने अपने महं में चेतना के साथ अचेतन तथा मौलिक अस्मिता-व्यापार को भी स्थान दिया है। महं को समझने के लिए बोझा-सा विस्तार और अपेक्षित है। वह व्यक्ति को शास्त्र परामर्श हो कर आदर्श का अनुसरण करता है और आदर्श में ही विकास की सम्भावनाएँ देखता है तत्त्वबर्षी हो सकता है किन्तु समझनिष्ठ या बहुनिष्ठ वह नहीं है अतः उस के आदर्शानुसरण को महंभर्य ही समझना चाहिए। यह महंभर्य अत नया नहीं तो क्या है?

स्त्री-पुरुष का भेद निकपण भी इस महं विवेचन में ही जैनेन्द्र ने किया है। महं-चेतना की उत्पत्ति के क्षण में ही पर के सान्निध्य की चाह ने स्त्री-पुरुष के भेद को जन्म दिया। जिस 'अंध-महं' चेतना में यह चाह हुई कि 'बहु मुझ में हों' वह स्त्रीत्व प्रमाण हो गया और जिस ने यह चाहा कि मैं उस में होऊँ वह पुरुषत्व मुक्त हो गया। महं के स्त्री-पुरुष भेद की इस कल्पना को जैनेन्द्र ने किसी शास्त्र के प्रमाण पर खड़ा नहीं किया है। यह अज्ञ की प्रकट व्यापार-नीति का दार्शनिक समझबूझ में गुम्फन मात्र है। जैनेन्द्र ने इस कल्पना को धाष्ट बनाने के लिए भर्त्सना-रीति की पौराणिक कल्पना का संकेत प्रचलन दिया है जो किसी हद तक कल्पना के मैल में है।

जैनेन्द्र के तत्त्व चिन्तन में महं का प्रमुख स्थान है। सगर्हों ने काम प्रेम और पीन आकर्षण में महं को प्रेरक शक्ति के रूप में समोया है। इन्द्र के मूँ में भी महं की सत्ता है और प्रेम में भी—क्या यह स्पष्ट विरोध नहीं समझा? किन्तु इस का समाधान जैनेन्द्र के पास है। वह महं को बुर्बल है परिस्थिति से प्रभावित होता है जो पत्ते की तरह हवा के रुख पर काँपता है। संग-साथ स्थिति-परिस्थिति से ही अपनी प्रेरणा से लेता है और एक झोंक में झुट और दूसरे में भस्म बना दीयने समझा है यह बुर्बल महं है और यही चित्त की चंचलता में कारण इन्द्रा मिमूत होता है। महं रति की स्थिति में इस लिए प्रेम असंभव है क्योंकि स्व'

है 'पर' में सम्मिश्रित हुए बिना प्रेम उत्पन्न हो नहीं हो सकता ।

सामान्यतः यहू को हम विवेक सम्पन्न व्यक्तित्व बनना का पर्याय मानते हैं। यह जीव-जन्तु जगत् में यहू की स्थिति नहीं मानी जाती किन्तु मैं ने पहले सिखा है कि जैनग्र का व्यापक यहू जीव-जन्तु जगत् तक फैला हुआ है। जैनग्र ने उन में भी पारस्परिकता मानी है जो सामान्यतः बनती नहीं है। किन्तु सीमा-विरोध में जैनग्र ने जीव-जन्तुओं की पारस्परिकता का निदेश किया है। पशु-पक्षियों की मूल भावना में इसी सामाजिक पारस्परिकता को देखने का प्रयास किया गया है।

'परमात्म तत्त्व में जो यहू के रूप में अलग-अलग बटकों में विभाजन की आवश्यकता क्यों पैदा हुई? और जब हुई तो उस यहू में जिसे प्रायः बहुत इष्ट नहीं मानते इतनी शक्ति कहाँ से आई कि वह आत्मा को एक और भावत बनाए रख सके और उसके विरुद्ध आत्मा को सतत एक संघर्ष देखना पड़े।' पृष्ठ ६२२ पर अधिकृत प्रश्न नं० ४२२। प्रश्न-कर्त्ताने को यहू एक पूर्ण संकाएं रखी है। परमात्म तत्त्व से यहू से पृथक् होने का हेतु और यहू के शक्ति-सम्पन्न हो कर आत्मा से वृद्धि का हेतु। पहली संका का समाधान करते हुए जैनग्र ने कहा कि यहू महा प्रश्न है जिसका उत्तर नहीं है। परमात्म तत्त्व से यहू पृथक् हुआ यह हेतु की मर्बादा नहीं चाहता। यदि कोई हेतु झूठा ही हो तो समझ लीजिए कि 'परमात्म स्वभाव जीला मम है, नाशयम की भीक्षा में से मर की सृष्टि है। सृष्टि स्रष्टा की केमि भीड़ा है, इसके अतिरिक्त और कोई सार्वक भाषा हो नहीं पाती। जैनग्र जैसे विचारक का यह उत्तर सर्वथा परम्परा वादी है। इसमें युक्ति उनके का प्रभाव तो है ही। यहू-कल्पना का पुराना संकेत भी निहित है। हम जैनग्र जैसे विचारक से ब्रह्मनाशार्थ की सीमापरक व्याख्या की आशा नहीं करते। अन्तिम मार्गीय ग्राम सभी आचार्यों ने ऐसा उत्तर प्रस्तुत किया है। क्या जैनग्र सृष्टि शक्तिया का कारण भी परमात्मा की भीड़ा प्रवृत्ति को—सीसा को—ही मानते हैं? यहू के उद्भव के लिए अधिक वैज्ञानिक बौद्धिक एवं तर्क सम्पन्न उत्तर अपेक्षित है।

यहू और आत्मता का विभक्षण भी इस प्रसंग में समझ लेना चाहिए। यहू और आत्मा का पारस्परिक क्या सम्बन्ध है? जैनग्र के मत में सम्बन्ध नहीं है जो आकाश और विद्युत का है। मूल बराबत आकाश है, आत्मता भी तद्वत् मूल परातम है। आकाश में विद्युत पति करते हैं। 'यहू जीवित रहता है क्योंकि उसे आत्मता का अवलम्ब है। यहू स्वयं में स्वयं और अस्तित्व हो जाता है, अन्तर से उसे हम सर्वदा हटा और बटा मान लेते हैं। इस प्रकार अन्तिम से छिन्न-भिन्न यहू है ही नहीं। फिर जो उसकी अव्यक्त संकुचता है, उसी को आत्मता का संबन्ध मानना चाहिए।

ग्रह सम्बन्धी ऊपर के विवेचन-विस्तीर्ण के बाद भी यह निष्कर्ष निकसता है कि जैनग्रन्थ ने ग्रह की स्पष्ट परिभाषा प्रस्तुत न करके उसके व्यापक स्वरूप और अस्तित्व का विविध रूपों में वर्णन किया है। परिभाषा के अभाव में ग्रह का स्वरूप बोल सामान्य पाठक के लिए नितान्त दुर्बोध हो गया है। दो ही पृष्ठों में जो कहा गया है उसे प्रारम्भ में जो व्यक्ति और जो पृष्ठ में अवश्य कहना चाहिए था।

# जैनेन्द्र जी की दार्शनिक विचार-धारा

—भी सत्यप्रकाश 'मिसिब'

जैनेन्द्र जी ६ वर्ष के हो गए और उनका ६वाँ वर्ष उन की स्मृति पर आकर उन्हें और समस्त हिन्दी सभार को एक संदेश देने की भावुर है। आगामी वर्ष कहता है कि जीवन-पर्यन्त में अत्यन्त ज्ञान की कसौटी पर स्वयं को कसने में मात्र प्रेम और सहिष्णुता को साहित्य के हर संभव माध्यम से प्रतिष्ठित करने में कुशल एवं पर-सेवा की धुन में स्व-सेवा का सर्वथा मुक्त बैठने में पूर्णतया अत्यन्त इस साहित्य-साधक की इस उक्ति को सत्य हो कर ही रहना है कि निष्कलता ही जीवन का निष्कर्ष नहीं है नकार सार नहीं है।

आचार्य प्रवर डाक्टर बामुदेवधरप्रसाद के इस वक्तव्य की कौन प्रतीति कर कर सकता है कि 'जैनेन्द्र ने बहुत लिखा है और मात्र भी उस की ज्ञान वेद की ध्वनि समृद्ध है। निश्चय ही कथाकार, उपन्यासकार, विचारक और विस्तृत जैनेन्द्र का रचना प्रक्रिया और उन की विचार-धारा की गल्प-चित्रित करने वाले किसी भी कुशल साहित्यकार 'सर्वत्र' का उन की विमुक्त कल्पना विरमसनीय स्मृति एवं अनुभव रचि के रोमों की दृष्टि से अशोभन नहीं होना है। और अभी उन की नई एवं पुरानी दोनों प्रकार की रचनाओं में से नई चेतना की दृढ़ निवासना होना।

मुझे तो कभी-कभी ऐसा लगता है कि जीवन-पर्यन्त के कुशल व्याख्याता के रूप में विचारक जैनेन्द्र एक ऐसी तुलिका को पाये हिन्दी जगत में आए जिस से उन्होंने ने अपने विभिन्न उद्देश्यों उद्धारों मनोद्वैतों और अनुभवों को अपनी विभिन्न कृतियों के माध्यम से चित्रित कर के एक मौनिक एवं आचर्यक एवम् के बिम्बों को बिखेर दिया है। कभी-कभी ऐसा लगता है कि जैनेन्द्र की कृतियों में धर्म से पड़े हैं और उन के साहित्य में यदि इतनी व्याख्या पायी है कि दूर से देखने वाला बर्तक जैनेन्द्र को मात्र बार्थनिक मान कर सीधता हुआ-या धाव नई जाना चाहता है। पर एक श्राव उल के पीर दक जाते हैं। वह देखता है कि हिन्दी-साहित्य के इस सम्बन्ध-मन्दे और कटकाकीर्ण मार्ग पर एक 'भारत-स्टोन'

के रूप में जैनेन्द्र का कृतित्व सदा है। उसी क्षण वह अपने मन के पुच्छ-भाम से धुसने वाली संका को भाङ्ग कर सदा होता है। क्योंकि वह देखता है कि इस कृतिकार ने अपनी तमाम सन्नमा सरस्वती की सभी सेवा की है और अपने ज्ञान को सही मार्ग में जीवन की कसौटी पर परखा है।

## वक्ता के पहरेदार

वक्ता पर भी पहरा बैठाने की अद्भुत क्षमता एक स्वस्थ चिन्तक और सारवत् साहित्यकार में ही होती है। 'इतस्तत्' और 'समय और हम' जैनेन्द्र के ऐसे दो नए ससक्त ग्रंथ हैं जो एक और यश युग की विद्युत्ता से उनके मानव के परो को सहजाने में कुशल हैं तो दूसरी ओर वे संक की चोट समाज पर किए जाने वाले हर अन्याय के विरोध में अपना स्वर ऊँचा करके सही रास्ता दिखाने का पुनः भार भी थोड़े हुए हैं।

जैनेन्द्र भी अपनी इन दोनों ही कृतियों के माध्यम से स्वतंत्र एवं प्रबुद्ध माने वाले ज्ञान को अधिक परिमार्जित एवं सफल बनाने के लिए प्रेरणा प्रदान कर रहे हैं। व्यक्ति के प्रति अविवक्षित भाव की प्रणालियों के प्रति जैनेन्द्र भी पूर्णतया सज्ज हैं और वह अनुभव करते हैं कि 'सामूहिक आई चेतना की बेदी पर व्यक्ति-ग्रह के समुचित परिष्कार एवं विकास की सम्भावनाओं की बलि दे दी गई है।

## विद्रोही भावों की उत्पत्ति

मुझे तो ऐसा लगता है कि 'इतस्तत्' की उत्पत्ति और उस का प्रादुर्भाव ही दार्शनिक जैनेन्द्र के विद्रोही भावों के कारण हुआ है। इस को उन्होंने एक सम्पादक महोदय के पत्रों में कहलाया भी है। वस्तु सत्य यह है कि 'धर्म' और 'संस्कृति' के अन्तर्गत प्रारम्भ में ही जैनेन्द्र भी ने परम्परा प्रयति और धर्म जैसे बहुवचन एवं नित्य प्रयुक्त किन्तु बहुत ही विमल सभ्यता का स्पष्टीकरण प्रस्तुत किया है। जैनेन्द्र दर्शन का सङ्क्षेप है— 'विगत आगत और अनागत को एक लड़ी में पामता है वह धर्म है।"

इतस्तत् के सात सहायक हैं — (१) प्रेम विवाह और व्यक्तित्व (२) भग्नता और सम्पत्ता (३) दमघान (४) प्यास में लूटान (५) धर्म और विद्या (६) ईश्वर का सत्य और (७) गवाह और आदर्श। भग्नता पर जैनेन्द्र भी ने दो विचार व्यक्त किए हैं वे विविध से लगते हैं। वक्ता के आविष्कार के विषय में वे कहते हैं— "एक मनुष्य ने वस्तु का आविष्कार किया है। किया है

कि वह अपत्य को देखेगा सिर्फ़ धपने को नहीं देखना कि अनिष्ट को अभीष्टिकर को प्रसन्निकर को हक देगा और उसी को सगा जो प्रिय है इष्ट है।" इस प्रकार की उक्तियाँ जन-साधारण को ध्मेन में बाँध देती हैं। पर दार्शनिक जैनेन्द्र दुनिया के बबनों से ऊपर हैं—वह तो उस वस्तु-सत्य का प्रकाशन करते हैं जो उन के तक पर टिकता है।

## मनीषी जैनेन्द्र

यह है साठ नवम्बर, नेता जी सुभाष मार्ग जिस में 'पूर्वोदय' का कार्यालय स्थित है। इसी कार्यालय के पुष्ठ भाग में एक साधारण-सा कमरा है जिस में पड़े तख्त पर मौन एवं शान्त पलन-बुलसे जैनेन्द्र जी बिराजमान हैं। आप उन को देख कर ही समझ जाएँ कि वह छोटी-मोटी निम्नार्थों और आसोचनाओं से ऊपर हैं और आपर कहीं आप मुझे मटके उन के वर्चन या जीवन की परिभाषा का प्रसंग छोड़ बैठें तो निश्चय ही आप धारमव्यक्ति रह जाएँ—यह सुन कर कि 'इति ने कहा—'अस', गीता ने कहा—'यस' और कुरान ने कहा—'कुरानी' तो क्या मही सब जीवन का घब है? सार है? लक्ष्य है?"

तो सब भी आप आपर जैनेन्द्र जी के कमरे में बैठे रहे और आप उन से पूछ बैठें तो आप को सब के बिषय में भी उन के विचार सुनने को मिला सुकते हैं। वह आप को स्पष्ट रूप से समझाएँ कि "बर्म धीर क्या है? यह प्रवहार और वैमन्वर और मसीहा क्या है? व्यर्थताएँ हैं जिन को धपने बीच हमने खड़ा कर सिमा है कि उन के सहारे प्रभु बनें दूसरे बास बन रहें।" और फिर आप स्वतन्त्र रूप से निश्चय ही कह बैठेंगे—जैनेन्द्र एक 'जीनियस' है बिबल साहित्य भर में क्योंकि 'प्रतिमा' बिबलभ्यापी होती है देश कास या प्राप्त की रेखाएँ धर्म-धर्म उस क चारों धार से भूमिल होती बसी जाती है।

तो सब आप जरा देखिए उन नेत्रों की उस मस्तिष्क की और उस व्यक्तित्व की जिस में समय के साथ हमें जोड़ा मा तोड़ा है। 'समय और हम' के सर्वक की सन्दर्भ उसकी एक मौनिक विरोधता है—धर्मन में जिस व्यक्ति का बिश्वास सगमय नहीं क बराबर है। बिज्ञान और वास्तिकता में जो धन्तर है उस का दितमा सुन्दर और सुलभा हुआ प्रकाशन जैनेन्द्र ने प्रस्तुत किया है 'माना बाता है कि वास्तिक बचन ही होता है। बिज्ञान उस से बरी है। सफ़ट जिस में मानव पाति या पड़ी है बहुत-बहुत उगी बिच्छेद और बिरोध में से बना है।"

जैनेन्द्र जी काग़्भीबादी हैं सर्वोदय में बिश्वास रखत हैं और भारत के वैस्तिम मोर्ची हैं धनेक ऐसे मत प्रायः प्रचलित हैं। पर मुझे तो ऐसा लपता

है कि एक भुव सरय्य अपर घाव कोई है तो वह यह है कि जैनेन्द्र जी हमारे देश की प्रशासकीय गति विधियों से कुछ भुङ्ग से हैं। तभी तो वे कहते हैं—“सब जानते हैं कि कांग्रेस के राजनितिक नेताओं को गान्धी जी का मार्ग उस समय बड़ा और पड़ा नहीं। पाकिस्तान को कांग्रेस के नेताओं ने स्वीकार किया कांग्रेस की जनता ही शायद इस निर्णय को न मानती नेताओं को स्वयं यह संशय था।  
(समय और हम—पृष्ठ २१६)

### दुरुह जैनेन्द्र

कहानी के सिस्म प्रभाव बिचा और इतिहास पर दृष्टिपाठ करने से घाव के पाठक को जैनेन्द्र की कहानियों की सूक्ष्म ‘अंतरंगता’ कभी-कभी ऐसी दुःख और दुष्कर-सो सगने लगती है कि सामान्य पाठक जैनेन्द्र को कल्पिकारी एवं दुर्गम कहानीकार की संज्ञा तक वे डालना चाहते हैं। इधर स्त्रियाँ को छोड़ विद्यार्थी नामे बाध्यनिक चिन्तक और विचारक जैनेन्द्र के विषय में कुछ माइनों में ऐसा मत व्यक्त किया है कि जैनेन्द्र का सर्वज्ञ-ज्ञान और उसकी प्रामाण्य क्लिष्टता उनकी कहानी के मार्ग में बाधक-सा बन गई है और इसी से पिछले कुछ दिनों में जैनेन्द्र की कुछ कहानियों की यम-तन-सर्वज्वल बर्चा रही है (इसका उत्तर जैनेन्द्र के शब्दों में स्वयं यह है—‘लेकिन बाध्यनिक मैं हूँ वहाँ ? मैं अपने को निन्दित विज्ञासू मानता हूँ।’ एक स्वागु पर उन्होंने स्वयं कितने स्पष्ट शब्दों में कहा है—‘ज्ञान की बड़ सड़ मे है। प्रेम सड़ के विसर्जन का नाम है। इसलिए ज्ञान और प्रेम में सदा सड़ाई चलती है। मैं प्रेम का बिन बिका प्रज्ञासू हूँ। सोह कर के ज्ञान की पंक्ति में कैसे बैठ सकता हूँ ? कहानी को मैं प्रेम-तत्त्व से जुड़ा देखना चाहता हूँ।’)

‘विज्ञान नामक जग की कहानी के विषय में हिन्दी-जगत् में इन दिनों काफ़ी बर्चा रही है। मैंने भी उसे पढ़ा और जैनेन्द्र जी से एक दिन सड़सा बर्चा छेड़ ही बैठा। उनके बिचारों को व्यक्त करने की चेष्टा करते हुए स्मृति के आधार पर ही मैं कह सकता हूँ कि जैनेन्द्र समझते हैं कि विज्ञान अपने प्राप में परिपूर्ण दृष्टि का चोख नहीं है।’ जब मैंने उनसे यह जानना चाहा कि तो फिर व्यक्ति और विज्ञान का सम्बन्ध कैसे बनता है तो उन्होंने मुझे समझाते हुए कहा—‘विज्ञान व्यक्ति का सम्बन्ध वस्तु के साथ समीचीन बना सकता है किन्तु जब प्रत्यक्ष व्यक्ति-व्यक्ति के सम्बन्ध का हो तो विज्ञान धर्यान्त है।’ इस सूक्ष्मतरंग प्रस्तर की समझने की चेष्टा करते हुए जब मैं सोने-सा जपा तो जैनेन्द्र जी का प्रस्ताव वाक्य था—‘इस पारस्परिक सम्बन्ध के लिए भावना

मात्रादक है।" किसी स्वल्प विचार देती है जैनग्रंथों की विचारणा। जब वह यह उद्घोषणा करती है कि "भावना हीम सामाजिक एवं वैयक्तिक सम्बन्धों में मानविक नहीं हाउ बल्कि अद्वय होते हैं और उसमें से पतित हुआ समान विज्ञान सुखी-समाज की सृष्टि नहीं कर सकता।" जैनग्रंथ के रचनात्मक मस्तिष्क से निकला बुद्धि और भी कहानियों न पाठकों को मस्तिष्क पर और डाम कर सोचने-समझने के लिए बाध्य कर दिया है। 'विज्ञान' का उत्तर देने की इच्छा में ही जब पाठक 'अविज्ञान' को पढ़ता है तब उस के हृदय लयती है यह वास्तविकता कि अविज्ञान में भावनात्मक तत्वों का समीचीन पोषण है। 'सिद्धार्थ' या 'महाप्रज्ञा' भी यैने पढ़ी। एक बार तो समझ में आया ही नहीं लकिन जब एकात्मता के क्षणों में बो-धीन बार उस पढ़ने की चेष्टा की तब लगा कि जैनग्रंथों का यह मत वास्तव में ग्रहणीय है कि जिस मस्तिष्क (माहृष) को हम मुक्त (सिद्धार्थ) मान कर सराहते हैं वह अन्त में कबल कलमों और धारों से मुक्त हुआ करता है। मुझे लगा कि जैनग्रंथ प्रायः उस 'माहृष' की उपाय में रहते हैं जो अहं से घातक और भावना न हो। इसी लिए तो जैनग्रंथ इस बात की घोषणा करते हैं—'सिद्धार्थ माहृष' का 'पश्य-स्वर' रति में न निकला है और उसे पश्य पर चल कर सच्ची मुक्ति जैसी उपलब्धि कभी भी नहीं हो सकती।" मैं ने जैनग्रंथों के विचारों को इस विषय में समझने की चेष्टा की है। मुझे लगता है कि इस माध्यम से वह धार्मिक सिद्धार्थ (मुक्ति) पर साक्षात् प्रहार कर धकेलें हैं। उनकी दृष्टि से सच्ची मुक्ति 'स्व' को 'पर' से निरपेक्ष करने में नहीं है बल्कि 'स्व' और 'पर' में नीत करने में से प्राप्त हो सकती है। आज का सिद्धार्थ जैनग्रंथों की ऐसी अमिता है जगत् सामाजिक दार्शनिक से जगत् दटना चाहता हो। जैनग्रंथों का यह विचार प्रसारण सत्य है कि इस प्रकार के सिद्धार्थ में से "हुआ कर्मन हो सकती है—मुक्तता नहीं।"

क्या आप ने जैनग्रंथों को पठन के मुहूर्तों को पीढ़ों और पिढियों और दशकों को बिभाजित और उन के बीच दृष्टि बन कर देखने देखा है? क्या आप ने निराश और हिम्मत-हारते व्यक्ति को जैनग्रंथों से साहस भरने वाला संदेश प्राप्त करते देखा है? क्या क्या आप को कभी ऐसा भी मिला है कि आप उस समय गए हों जब जैनग्रंथों यन्मीर विषयों और गहन समस्याओं पर अपने विचार धारा-प्रवाह रूप से "डाइविन्ट" की रिपोर्ट करते हों? मेरा ऐसा निराश है कि जैनग्रंथों विभाजित की एक नई दैन है जिसे हर्षे संजो कर, सम्मान कर रक्षना चाहिए।



## जैनेन्द्र जी की महासागरता

—डा० राधेश्वर घुस

‘परब’ और ‘सुनीता’ के सेसन से प्रारम्भ करके गांधीवादी-सर्वोदयी दर्शन की मंचित तक का पथ एकदम झुंझ नहीं बीछ पड़ता। मनोविज्ञानशास्त्र के उपस्थापकों के कर्त्ता के साथ मानवतावादी आदर्शोंगुनी बार्थनिक का मेस ठीक ठीक नहीं बैठता यह अनेक तार्किकों का मत है। किन्तु सही बात यही है कि जोर व्यावहारिक यथार्थ की संतुष्टता के बीच से ही आदर्श अपना रास्ता बना कर चसता है। यों भी कह सकते हैं कि यथार्थ की दृष्टि बितनी बहरी और पैनी होनी आदर्श की कान्ति उठनी ही प्रकर और आकर्षक होनी। जो जीव को बितनी ही मजबूती से पकड़ेगा आस्था से ग्रहण करेगा वह उतनी ही दुष्ठा से उतने ही विश्वास के साथ जीवन के यथार्थ को कह पाएगा और आदर्श को छु सकेगा। सोचें तो जान पड़ेगा कि इस उपसमिष्ट के लिए आवश्यकता एक अद्भुत बौद्धिक संतुष्टन की है जो यथार्थ की विपक्षिपाहट और आदर्श को आकाश कुसुमता के अतरे से बचाए रह सके। अगर कहें कि जैनेन्द्रकुमार का व्यक्तित्व ऐसे ही संतुष्टन का व्यक्तित्व है, तो सम्भवतः यह उन का सब से सच्चा परिचय होना।

अपरिचय में ज्ञान अंधरा रह जाता है। अति-परिचय में वह अगारमक हो उठता है। मैं जैनेन्द्रकुमार से परिचित हूँ इतना ही कि उन के बारे में निकटता से जान सका हूँ इतना अधिक नहीं कि उन की बात को मैं कर एकदम आमुक हो उठूं। दो दशाब्दियां होन आई हैं, जब उन के साथ उन के निवास-स्थान पर ठहरने का अवसर मिला था। तब भीमती सुमत्राकुमारी चौहान भीषित थीं। वह भी पैरे साथ थीं। बूझती बार कोई पांच वर्ष पूर वह ओपाज आए थे और तब दो दिन उन के साथ रहने का अवसर पाया था।

इन दो सम्पर्कों में विनिष्प सुर्षों से जैनेन्द्रकुमार के सम्बन्ध में अपनी निजी चारणा बनाने में सहायता मिली। जब मैं त्रेमचन्द के सम्बन्ध में लिख रहा था तब त्रेमचन्द-सम्बन्धी उन के सैल को से कर कुछ पत्र-व्यवहार भी पैरा जैनेन्द्र

भी से हुआ था। उन को जानने में यह प्रसंग भी उपयोगी सिद्ध हुआ।

विस्तृत परिचय देना भासान हुआ करता है। विस्तार से वही बात सरल को कम से कम स्थूल रूप में रखने में तो सफल हो जाती है। लेकिन जहाँ विस्तार को संजाइस न हो वो कबनीय है उसे सूत्र में कहने के प्रतिरिक्त कोई बाध न हो वहाँ कठिनाई छड़ी हो जाती है। जैनग्रंथों के सम्बन्ध में वही संकट है। उन का व्यक्तित्व सूक्ष्म है। सूत्र के सहारे ही उन के विस्तार को समझना होना। उन के बाह्य की सरसता और अन्तर की समीरता उन के परिचय के चारों ओर परिधि-सी खींचे रहती है जिन्हें साँव कर भीतर पहुँच पाना सर्वथा भासान नहीं होता।

(को मित्रभाषी हो जिस का यौन उस की पुण्यता से अधिक बाधाम हो को रूप से भ्रम और बुद्धि से अनुभव तक फल सकने वाली दृष्टि लिए हुए हो जो वर्तमान के क्षितिज पर किसी व्यक्ति का आलोचक हो उसे एकदम सामान्य विधि से पढ़ाना परमार्थ सम्भव नहीं होता। मैं अब-अब जैनग्रंथों के बारे में सोचता हूँ तो उन मेरे सामने प्रसन्न महासागर के चित्र साकार हो चला है।)

यह कथन स्पष्टता की अपेक्षा रखता है। जैनग्रंथों की महासागरता इस में है कि अपनी अभिव्यक्ति में भी उसने ही समग्र, वृत्तार है। उन के भीतरी भावों से अभिव्यक्ति में जैसे सङ्कुच जाते हैं। लेकिन कोई कहे कि भीतर चल नहीं है तो सचेता कि बाह्यही अभी प्रबोध है। हाँ यह ठीक है कि इन रत्नों की परत सर्व-भूतम नहीं है।

यह निर्विवाद है कि जैनग्रंथों में अमूल्य विचारक हैं। उन का कथाकार उन के बुद्धि विचारक का पन्ना पकड़ कर चलता है। वहाँ कथाकार पर यह विचारक हावी नहीं हुआ है। वहाँ जैनग्रंथों की कृति कथा साहित्य का गौरव कम गई है। लेकिन अनेक प्रसंगों में जैनग्रंथों का विचारक कथाकार को एकदम अपने निर्वचन में रखने की कोशिश में कथा रस में व्यापार पहुँचाता पात्र पकड़ता है। फिर भी यह सत्य है कि जैनग्रंथों के समस्त व्यक्तित्व का रहस्य उन के विचारकरम में है। जितने जैनग्रंथों के विचार एकत्र किए जायें उसने वह मात्र विद्या या कि जैनग्रंथों का विचारक रूप ही उन का प्रकृत रूप है।

जैनग्रंथों का कथा-साहित्य विरोध का साहित्य है। यह व्यक्ति-स्वातंत्र्य को समाज की बेबी पर बमि होते देख कर लुप्त हो चला है, उस का विरोध तेज स्वता के साथ मुक्त हो चला है। वहाँ के समाज में गिरी हुई नारी की जैसी हिमायत की है वैसे किसी प्रतिद्वन्द्वी की कृति और बाणी में ही सम्भव है, पर

समाज से एकदम हनकार करके उस को धामूल नया बनाने की कोशिश करने वाला समाज की साधारणता के साथ मेल न खा सकने के कारण समाज से दूर जा पड़ता है। यही उस व्यावहारिकता की आवश्यकता पड़ती है जो गांधी-जीसे जातिव्रष्टा में मिलती है। बाब में जैनेन्द्र ने गांधीवाद को स्वीकार किया है किन्तु गांधीवाद का व्यावहारिक पक्ष जिस सामंजस्य को साध कर चलना चाहता है, वह जैनेन्द्र के कथा-साहित्य में नहीं भी मिलता। तभी उन की कथा-कृतियाँ एक बेचैनी-सी बना कर रह जाती हैं। तभी लगता है कि उन की कट्टी जन की सुनीता जन की मृणाल जन के बिखड़ एक आरोप-यत्र एक अभियोग-यत्र लिए जनता की पराजित में खड़ी हैं। जैनेन्द्र ने यद्यपि इन बेचैयानों को सहनशीलता के माध्यम से बाणी प्रदान की है तथापि उन के प्रति सहानुभूति-संवेदना जैसी कुछ जमनी चाहिए, वह अब नहीं पाती।

[ और विचारक जैनेन्द्रकुमार के सम्बन्ध में प्राप्नोचक कहता है कि उन की प्रक्रिया मात्र मंचन की प्रक्रिया है, किन्तु मंचन जब तक लवनीय न हो पाए, उस की सार्यकता सिद्ध नहीं होती। अथर्वदर्शन में साधना और सिद्धि जैसी स्थितियाँ सम्भव हैं तो कहेंगे कि जैनेन्द्र का विचारक अभी साधक है। )

सम्भवतः बात ऐसी कुछ भी हो सकती है जैसी आचार्य विनोबा भावे के सम्बन्ध में कही जाती है। सर्वोदयी दर्शन को व्यवहार में लैसाने का प्रयत्न विनोबा कर रहे हैं, किन्तु निहित स्वार्थ ईश-उम से बाधाएं खड़ी कर रहे हैं। तभी एक सहज सत्य लोगों को अवगत स्पष्टित नहीं कर पा रहा है। सम्भवतः भीतिकता के निबिड़ वातावरण में सर्वोदयी दर्शन की विचारधारा अभी गर्म तब की बूंद बनी हुई है। लेकिन भीतिकता का प्रतिरेक एक दिन स्वयं जब प्राप्नारिकता के लिए विकस हो उठेगा उस दिन सम्भवतः जैनेन्द्र की बाटीकी का मर्म जन मानव अधिक समझ पाएगा।

जैनेन्द्र कथाकार है विचारक है दार्शनिक है।

३३

## जैनेन्द्र की प्रेयसियां

—प्रोफेसर भगवन्तशरण जोहरी

उपन्यास छन्द सब धर्मात् समीप तथा न्यास धर्मात् पाटी के मोम से बना है, जिस का धर्म हुआ वह कृति जिस को पढ़ कर ऐसा लगे कि इस में हमारी ही कथा हमारी भाषा में कही गई है। परन्तु उपन्यास जीवन का चित्र है प्रतिबिम्ब नहीं है। उपन्यास का मुख्य ध्येय पाठक का मनोरंजन ही नहीं है। वह महान् धर्मों और नैतिक आदर्शों का एक प्रत्यक्ष मूर्तबान साधन है। उपन्यास निर्वास के बार छल सामने आते हैं, राय सामयिकता केबल कर दर्शन तथा कथा। उपन्यास उस सामुहिक गुण की उपज है जिस का दृष्टिकोण सर्वथा व्यक्तिवादी हो गया है। उपन्यास वास्तविक जीवन की कास्परिक कथा है और उस के पक्षों की खोजना ही उपन्यास का मूल लक्ष्य है।

वर्तमान कथा-साहित्य के विकास में प्रमत्त के पदवात् जैनेन्द्र कुमार का विविष्ट स्थान है। वह अपनी रीति के आधुनिक समझे आते हैं। विरल में ऐसे विचारोत्तेजक लेखक कोड़े ही हैं। सामान्य से असाधारण हो वह अपनी पीढ़ी के प्रतिनिधि कथाकार कहलाए हैं। प्रेमचन्द भी ने उन्हें भारत का योर्की कहा तथा चन्द्रकि प्रिय भी ने उन्हें हिन्दी का रवीन्द्र या धरम ठहराया। वह चौबीसवादी भी हैं। उन का चौबीसवादी मानववाद का मुख्य भाग है, जो धर्मों के विचार से बरे हैं। 'परम', 'त्यागपत्र' की सीमा से त्यागपत्र दे कर जैनेन्द्र धात्र बहुत दूर निकल गए हैं। उन की आलोचना करते हुए अक्टर देवराज ने लिखा था—  
( 'जैनेन्द्र की प्रतिभा अप्रतिग्रहिणी है। बौद्धिक गहनता और नैतिक विरलेपन में चायब हमारे देश का कोई उपन्यासकार उन की समता नहीं कर सकता। उन को दृष्टि और कथा सुख-सुख की शिखार और वेदना में प्रतिष्ठित है।' ) वह प्रारम्भ से समस्या-उपन्यासों की रचना में अत्यन्त ही शिखार होते हैं। वह जीवन में व्यावहारिक न हो कर आदर्शवादी हैं अतः समस्याओं का कोई हल उपस्थित नहीं कर पाते।

दृष्टि की उत्सव-स्वरूपा नारी विरल-साहित्य में अपनी अमर्य स्थान रखती

है। जीवन के प्रारम्भिक वर्षों में पुरुष अपनी जननी की गोद में बगला बियड़ता है। पुनः जीवन की देखभाल पर चरण रखते ही उसे मारी के प्रिया-स्वरूप से प्रेरणा मिलने लगती है। इस प्रकार पुरुष के व्यक्तित्व-विकास में मारी का बड़ा उत्तरदायित्व है। वही से मारी को देवी या सहचरी तथा प्रायः जैसे सम्बन्धों से सम्बोधित किया गया है। मारी के ही रूप प्रायः सामने आते हैं, गृहिणी और प्रेयसी। कभी ये जीवन-सरिता के दो विपरीत छोर से लगते हैं। कभी ऐसा भी लगता है जैसे दोनों संघम की बाणियों के समान साथ-साथ बह सकें। प्रेयसी हमारे भावार्थक मन की कल्पना है जबकि गृहिणी उसी भावना का सामाजिक रूप है। पंथ जी ने अपनी अमूर्ति कविता में इन का वर्णन और विरसेपन इन शब्दों में किया है —

बंध कर हृदय सुकत होते हैं, बंध कर देह याचना सहती  
मारी के प्राणों में ममता, बहती रहती बहती रहती।  
हृदय तुम्हें देती हूँ प्रियतम देह नहीं दे सकती  
जिसे देह बूझी अब निश्चित, स्नेह नहीं दे सकती।

घर के मारी-भाग प्रायः ऐत्रिकता से रहित हैं। उन की मारियाँ गृहिणियाँ हैं प्रेयसियाँ नहीं। माँ की उपा के समान रंजीत एवं भावपूर्ण प्रेयसी जीवन के इतिहास में एक नया पृष्ठ खोलती है। वह मूल-मरीचिका है, छाया है और छाया के पीछे चौक कर किस ने स्थान पाई है। उन विषयों से धिया भी जा सकता है, किन्तु मन तो अपना और केवल अपना। अतः जीनेन्द्र जी की प्रेयसियाँ हमारे समक्ष एक विचारार्थक दृष्टिकोण प्रस्तुत करती हैं, चाहे वह वास्तविकता से वीर्यवान् हो। घर की तरह घर के पास भी जीनेन्द्र के लिए सम्पूर्ण सहानुभूति के पास हैं। उन के शब्दों में—“सभी पाशों की मैं ने अपने हृदय की सहानुभूति दी है। दुनियाँ में कौन है जो बुरा होगा चाहे वह और कौन है जो अच्छा ही अच्छा है।”

इस भूमिका के समक्ष परछाईं पर्याप्त मारी हो कर सामने आई। कट्टो परस का प्राण एवं निष्कर्ष है। कट्टो विषय है, उस का विवाह करना होना। सत्य मन उस के लिए बिहारी को तैयार करता है तथा निर्णय करता है कि परिणाम को स्वीकार कर कट्टो को भुल जाएगा। ‘परछाईं’ की समस्या यमीरी के प्रति बिरुद्धता की समस्या है, विषय विवाह की नहीं। कट्टो बिहारी के साथ कर्तव्य सूत्र में बंध सकती है। पुनः का निर्मास्य बन सकती है। वह चिर-जीव्य में बंध प्राप्त हो जाने की उत्तर है। संवर में अपने मास्टर के पैर टटोल कर वह धनुष से दूब ही अभिषेक करती है। वह सत्यपन के काम नहीं आई तो हुई ही

क्या ? समर्पणमयी बट्टी से बच कर सत्यजन कहाँ जा सकेगा ? बट्टी उस के भोग की बात जान वाली है हजार रुपये मेंट कर जाती है । धन का धारण किस प्रकार व्यक्ति को प्रभ की प्राप्ति से रोकता है यह परब की धर्म-सिद्धि है । बट्टी अपना मुहाम गरिमा को मेंट कर बैठी है । मन में परिणीता बट्टी क्या तन से धीर की हो सकती है ?

(सुनीता जैनधर्म की का बुराया भेष्ट उपम्यास है । इस में जहाँ ने एक पापमय इच्छा, धर्मस्थित एवं धर्म्यावहारिक धार्मिक की सृष्टि की है । सुनीता मुबती पत्नी तथा धीकाल उस के परिवेश हैं । पति के मित्र नवमुषक हृत्पिसत्र का धागपन होता है उसे एक दुष्ट बाँधिकाठी धान्योत्तन से सम्बद्ध कर के । समस्या प्रत्यक्ष है, पर्व-रहित परिवार में पर-मुष्य प्रवेश । पत्नी का बने यों तसवार की धार पर चलता है, यही उस की परब है । सुनीता पति में ही नहीं वह स्वयं भी है । रबीर का 'बरे बाहरे' नारी को प्रेरणापयी कोपित करता है । सुनीता का पति प्रेम भी इसी प्रकार साँठित न हो कर धर्मस्कर बना है । हृत्पिसत्र के धर्म की प्रवृत्ति उसे मार रही की सुनीता ने उसका उपमयन किया । सुनीता को नम दिया तथा हृत्पिसत्र क मन में विरहित वायुत कर जैनधर्म की ने मनोविद्या के एक धर्म से तथ्य का स्पर्श किया है । कलाकार किसी प्रयोजन में नियोजित कर दिया जाए तो बड़ी धनित बन जाता है । धर्मार्थ से बरे सतीत की दुर्लभ कलाइयों पर पड़क सुनीता इस तरह के समस्त समर्पण करती है । )

( 'त्यागपत्र' जैनधर्म की का सब से प्रसिद्ध धीर विद्याप्रस्तुत उपम्यास है । इस का संश्लेष में की अनुवाद हुआ है । मृपाल का धर्मनी पीला के भाई के प्रति धार्मिक है धीर उस का विद्या एक ऐसे व्यक्ति से कर दिया जाता है, जो धातु तिल-तिल कर गमती रही धीर अतीत प्रयोग पत्नी छोड़ कर उस सत्य के तन से अपने को बचाए रहा । धर्म में हृदय की प्रेरणा क परिणामस्वरूप उस ने त्यागपत्र दे दिया ) पर यह किस समस्या का समाधान है ? मृपाल का धर्म पीछे मनोवैज्ञानिक धर्म बन गया है । उच्छ्रय को धर्म मान कर ही मृपाल ५ धर्मप्राप्ति पर स्वीकार किया । जो स्वाभाविक है बड़ी सत्य है धीर जो सत्य है उस की उपेक्षा नहीं सम्भव है ? धर्म बाँध कर हुए पटक देने से देखने की इच्छा तो नहीं मिट सकती धर्म मृपाल पापिष्ठा नहीं । पत्नीत्व की बेटी पर उस के प्रेम का बहिष्कार हुआ है । समाज से धर्मन रह उस की संयत्ताकांक्षा में बह टूटती रही । मृपाल स्वयं गिर कर प्रमोद को ऊँचा उठाना चाहती है । पीछे मानव जीवन को सापेक्ष बनाती है, यह गांधीवादी धर्मन इस सामाजिक निन्दित

की कथा में स्पष्ट है। हेमलेट के 'दू बी थार नाट दू बी' के समूह मूलाभ भी निबन्ध के आगे निरुत्सव्यविमूह है। ) { '

'कस्माणी' जैनेश्वर का परम्परागत उपन्यास है। महात्माकांक्षिणी युवती कस्माणी इंग्लैंड में डाक्टरी पढ़ने आई है। श्रीर हृदय का अत्यन्त भाव समर्पित कर देती है एक प्रीमियम बनने वाले तरुण को। भारत लौटने पर डाक्टर उस रानी की बृत्तता का विचार हो उस से विवाह करने पर वह विवश होती है। डाक्टर की प्रेक्टिस नहीं चलती बस डाक्टरी विज्ञान के द्वारा बनाई जाती है। परन्तु वह खुस कर विवाह नहीं कर पाती इस का मूल कारण है परिमार्जित भद्र वर्ग का जीवन। मूलाभ सामान्य है पर कस्माणी बिना सर्व से दीप्त थीक कर पुच्छती है—“तुम साफ-साफ कह क्यों नहीं देते कि तुम क्या चाहते हो? मुझे तिल-तिल कर बेचना चाहते हो सो कह हो तो रखा है।” विवाह अन्तस्था है और उस एक बार स्वीकार कर लेने पर मुक्ति नहीं है, इसी से मूल कस्माणी टूटती जाती है। प्रसन्न में बालक को जन्म है न वह स्वयं बच पाती है न नवजातक विधु। बदलायी द्वारा दयित प्रेम का विस्फोट कर प्रपंची पति स्वतंत्र जीवनका श्रीर अपनी स्थिति के प्रति निरन्तर विद्रोह है मानो कस्माणी।

'सुखदा' से जैनेश्वर के उपन्यासों का दूसरा युग प्रारम्भ होता है। कहानी कान्त सुखदा श्रीर ज्ञान के निकोल पर आधारित है। पति कान्त की सहिष्णुता को सुखदा स्वीकृत मानती है उस का विद्रोह सफल होता है तथा वह भावि दल की प्रमुख अभिनेत्री हो ज्ञान के विकास-कक्ष में रहने लगती है। वह नारी तत्त्व है कर भी ज्ञान को बचाना चाहती है श्रीर ज्ञान का भारमोघ बाधित होता है। सुखदा मन से पापिनी है तन से नहीं। वह नारी के बहिर्दमन की कथा है। घर के बाहर यदि उस की स्थिति हो तो घर बसा रह जाएगा वहां बुद्धि बीतती है पर हृदय रोता है।

विमर्श में मोहिनी विवाह के पूर्व ही विवेक की हो गई है। वह स्वयं को उसे सौंपना चाहती है पर बीच में घाती है घमीरी। अतः वह रेजिस्टर मरेस की पत्नी बन जाती है। विवेक कहता है—“तुम ठहरीं धीररवादी मैं मेहनत करके खाता हूं। पाई-पाई पसीने के बस मुझे कमानी हाती है।” प्रसन्न है कि क्या मोहिनी विवेक से भाव स्वयं को नहीं छसती? विवेक बर्गिय कुष्ठियों श्रीर विमर्श में बंदा है।

'अपठित' की कथा अनिता अयम्भ श्रीर मिस्टर पुरी को से कर चलती है। अयम्भ के मानिक की पुत्री सुमित्रा रंसे के नाम पर उस का प्रेम खरीदना चाहती है। अनिता मानो उभासामुली पर बैठी है अयम्भ ही उस का छोर है जब कि

यह पत्नी है मि० पुरी की। जयन्त जन्मी से बिनाह कर लेता है, पर मन नहीं दे पाता। जयन्त किसी को नहीं पा सका। यह क्या पराजय नहीं? अमिता की तटस्थता और अनासक्ति आत्म प्रवर्धना है।

'जयवर्द्धन' के प्रारम्भ में लेखक ने छंका प्रकट की है कि कितना यह उपन्यास सिद्ध होगा। उपन्यास द्रष्टा पात्र की जायरी के रूप में है। जयवर्द्धन तथा इसा के प्रेम-सम्बन्ध की वैधता-अवैधता काम मुसकमिरोची राजनीति का दृष्ट बल बना है। आचार्य के द्वारा पानी गई तथा मातृहीन इसा जयवर्द्धन पर मुग्ध है और अधिवाहित रह कर ही उस के साथ रहती है। निजा बाप से दूर मान जयवर्द्धन के पास जाती है पर इसा को ईर्ष्या नहीं। अन्त में जयवर्द्धन जला जाता है। विचारों के बोझ से यह उपन्यास दबा हुआ है।

'उपोमूमि की बारिबी कुर्बं प्रेमी नबीन से बिबबा होने पर भी, मान नहीं पाती और संया में बूबने के बाद काशी में बीसा हो जाती है।

(जैन की ने जब सैकन प्रारम्भ किया था उस समय नारी ज्योति की लम्बी मानी जाती थी। वास्तव में २०वीं शताब्दी नारी-जागरण और उस की मुक्ति का समय रहा है। जैन की की प्रेमियाँ मूल रूप में बन्धनमयी, मावना-मयी तथा प्रेममयी हैं जो बिबाह-बंधन में बंध कर भी प्रेम के प्रकृत आकर्षण को स्वीकार नहीं कर पाती हैं और इस कुर्बंता या सार्पकता के कारण अपना जीवन नष्ट कर लेती हैं। जैन की का समाधान है नारी पति को पत्नीत्व दे कर भी प्रेमी को स्नेह तो दे ही सकती है, पर इन में सीधित्व कहाँ है? मन के साथ उन भी सदा है, पर केवल धार्मिक स्नेह किसी को कब तक तृप्ति दे सकेगा। रवीन्द्र और सखी नारी की इस दुविधापूर्ण स्थिति को स्वाभाविक मानते हैं जैन अनुगामिता।)









## स्वयं अपनी दृष्टि में

—अनेक

प्रश्न है कि मैं ने उन्गवास बरैरह में जो लिखा है सो क्या अपने ऊपर लिखा है ? जो देखा और सुनता है उसी के आचार पर लिखा है ?

नहीं ठीक-ठीक अपने 'पर' नहीं लिखा है । हाँ 'अपने को' अवश्य लिखा है ।

इन दोनों में जो अन्तर है उस को तनिक चीलने की आवश्यकता है । मरी आप बीबी मेरा बहुत पोढ़ा घंघ है, वह बहुत सीमित है । इतने वर्षों में जो मेरे साथ हुआ है उसका ही नहीं उस में से भी जो याद में बसा रह गया है वही मरी आप-बीबी है । भृष्टि इस स्मृति के चरित्र के मरोये हा सकती है इस की सम्भावना कम है । मरा भीमा भीर सुमता पोढ़ा हो हो सकता है अधिक तो वह ही है जो उस से बाहर रह जाता है । बाहिर में अर्जुन्य अनन्त में से एक हो कर कितना कुछ मोम पा सकता हूँ ? वह पूर्वी अनिवायत बहुत पोछी और उपनी हो होती है ।

यह भी समझा है कि वह सामग्री उन्नी विद्वत्सनीय नहीं है । विद्वत्सनीय इकतिह नहीं कि स्मृति और रचि भी अपना खेल उस के साथ खेल करती है, कुछ इस को प्रिय जान कर अपने पास रोक लेती है, कुछ अय अप्रिय को बिसार देती है । इस में समर्थ ज्यों का त्यों सुरक्षित रह नहीं पाता कुछ निर्वीच का भी समावेश हो जाता है । स्मृति क समु-जाल प्रिय के कन को बुन-रुना कर बृहद् आकार दे सकते हैं जब कि पटनात्मक रूप में कुछ बहुत-बहुत भी पटा हो तो उस का एक कम शून्य कर जान सकते हैं । रचि-स्मृति का यह समागा अपनी ही आप-बीबी को मनमाना बन दे जाता है ।

मासूम होता है कि पटना को पकड़ने के लिए हमारे पास आ भी साधन है, पटित का रूप उन पर निर्भर करता है । जान और सबिदन के समुपों में हम उन को ग्रहण करते हैं । इसलिये एक स्थान और एक समय पर हुई पटना का वर्णन अनेक जन अनेक प्रकार किए बिना नहीं रह सकते । किन्हीं दो का वर्णन

एक नहीं हो पाता । कारण वह वर्चस्व विजिता घटना का होता है उठना ही वर्चस्व करने वाले का भी होता है ।

मह तो हुआ 'अपने घर' । घर 'अपने को' ।

मृग पर भीता जब सीमित है घटना से सीमित और स्मृति से सीमित है, तब स्वयं 'मैं' उठना ही सीमित नहीं है । कारण ऐय विजिता क्या यह जाता है उस से मैं भावना कायना और कल्पना का सम्बन्ध बनाने को स्वतन्त्र हूँ । इस सब के सहारे मैं घसीन हो जाता हूँ । मेरा अनुभव सीमित हो सकता है, पर स्वयं उस सीमा को मान कर दूबर हूँ । कैसे उठर सकता हूँ । सो स्वयंघोल कल्पना के सहारे मैं समान काल धक्काठ में बिह्वरण कर सकता हूँ । पटित जब कि मेरे साथ स्वयं और सीमित है तब पचटित सारा का सारा सम्भावना नाक के रूप में मेरे भीतर खड़ा करता यह सकता है ।

प्रतीत होता है कि सज्जन का कार्य इन सम्भावनाओं के जनन में से अपनी अधिक प्रेरणा प्राप्त करता है । तब बोझ बहुत काय से सकता है पर उस ठोस अवार्थ से जो स्वयं को बलि मिल जाती है, तब का मुख्य बल है तो यह है । तब मनुष्य के संवेदन पर साक्षात् देख कर नागा तरपों को जन्म देता है । जनन विकल्प और अनुमानों की सृष्टि उठ से होती है । अधिकांश के सहारे तब से स्वतन्त्र हो जाती है । हुआ वह तो समुक्त रूप या जो हो सकता या उस के रूपों का जन्म नहीं रहता । सब से सहारे उन जन्म सम्भावनाओं की धोर बढ़ने समती है मानो वहाँ व्यक्ति अपनी मुक्ति अनुभव करता है । कर्म बन्धन है स्वयं में पड़च कर उसे भीम का नाम होता लपता है ।

तब घटनात्मक और कथारमक है । उस की सम्भावनाएँ समाप्त हो चुकी हैं । जो है उठना ही है । ऐसे तब सर्वना निश्चित और व्यतीत है । मानो वह चुक गया है । देना या वह से चुका है और सब भीतता बन गया है । वह जो माने वाला शेष है सब तरह की सम्भावनाओं से भरा तो यह है । तब वह नहीं है, इस सिधे उस से हमारा सम्बन्ध तीव्रतर धाकासा धोर अनिच्छता का होता है । वहाँ सब कर्तव्य और भुजम की सम्भावनाएँ भरी हुई रहती हैं ।

मेरे अपने साथ उपप्यास-सैलक की हिसियत से यही पटित होया रहा है । पहाता उपप्यास या मेरा घर' । उठ में स्पष्ट धाग-बीती का प्रमाण है । किन्तु प्रमाण इस रूप में कि वहाँ से क्या उठ पड़ी है । उस क्या की पति जो मिमी है सो पटित तब के साधार पर कैसे मिल सकती थी ? पटित ने तो घट का काम भर दिया है । पर वह फिर क्या चलती है क्या पति के बिना तो बनती नहीं है । क्या हुआ फिर क्या हुआ उस के बाद क्या हुआ । इस तरह क्या को

सम्माननामों में आगे अपनी राह खोजते बसना पड़ता है। 'परब' में घाप-बीती के कष्ट से धारण करके इन सम्माननामों में से तर्क विचार के सहारे-सहारे मैं घाये बढ़ता गया हूँ। उसी में से 'परब' की कथासृष्टि होती गई है। नाना पात्र उसी मूल विचार में से प्रवृत्त होते गए हैं। उन के मानात्म के प्रमाण में सम्माननामों के खेल को चित्रित किया नहीं जा सकता था।

तो 'अपने को' बने या जाने की कोशिश में जो मेरा उपन्यास बना है उस में अपने पर बीता वहि आया भी है तो सामग्री की भाँति उपयोग में आ गया है। उस से अधिक महत्व उसे नहीं मिल सका है। इस कारण नहीं कि मैं अपने प्रति की प्रवृत्ति करना चाहता था बल्कि अधिक इस कारण कि मैं अपने को उठना ही मान नहीं सकता था। दूसरे चर्यों में कहें तो मोक्षता मुझ में प्रधान नहीं बन सकता था उससे ऊपर इष्टा और माता ही प्रधान बन जाता था। जिस ने मुझा है वह तो निमित्त ही रह जाता था उस को बसाने के लिए मानो ऊपर वह हो जाता था जो भोग से बँधता नहीं है, जो उस को चला और जानता है।

जितना विचार करता हूँ इस बटन पर उठना ही विचित्र मासूम होता है। इसलिए कभी यह भी लगता है कि सिखना धार्मिक धर्म्यास का काम हो सकता है। मानसोपचार में जो यह कहा जाता है कि प्रवृत्ति को चेतन में लाने मात्र से रोग की छवि खत्म जाती है तो बात कुछ समझ में आती है। इष्टा हम हो जाएँ और अपने ही मोक्षता को सर्वथा दुष्ट का रूप दे सकें तो जान पड़ता है कि ऐसे एक दिन मोक्षता का उत्पाद कम होने लग जाएगा और इष्टा स्वाधीन बनेगा। मोक्षता उस से स्वतंत्र और निरंकुश आचरण कर नहीं सकेगा।

वह जो हो उपन्यासकार की हिसियत से मेरा काम घाप-बीती से बिल्कुल नहीं जाता है। यदा-कदा और यम-तम उस के लक्ष्य काम आ गए हैं तो आ गए हैं इष्ट और केन्द्र का रूप उन्हें कभी मैं नहीं दे पाया हूँ। पहला उपन्यास मेरा 'परब' है। पहला है इसलिए अपने से बहुत दूर जाने की मुझे वही मूर्ख ही नहीं सकती थी। एकदम घाप-बीती से वह धुँक हो गया है, लेकिन बड़ा विचार में से है। मेरे मन में उस समय भी एक परिणाम बन कर स्पष्ट होता आ रहा था वह यह कि आदर्शवाद काम नहीं देता है। आदर्श के नाम पर अपने ही मनोरथों को हम सामने टाँग बैठे हैं पाँव लेकिन परिस्थिति की धरती पर पसते हैं। इस तरह समय आता है कि अपने को स्वीकार करने में आदर्श के साथ हमें समझौता करना पड़ता है। परिणाम एक मिथ्याचार होता है। अतः जान पड़ा कि आदर्श जीवन में वह अधिक स्थिर और सफल हो सकता है जो प्रसन्न स्वीकारिता से

बसता है। धार्मिक के बावें को कंधों पर ऊँचा उठा कर बसता हुआ नहीं बीसता। इस परिणाम पर पहुँचते हुए विचार के हाथ में धाप-बीती से मिस्री परिस्थिति पड़ गई, उस में से कथा को जो मौड़-ठोड़ मिस्रता बना गया सो बसा गया। अन्त में कुछ मिला कर जो 'परल' बनी उस से मानो यह विचार परिपुष्ट होता हुआ बीजा। सरयजन महाशय जो कथा के धारम्भ में नायक के रूप में अवतार पाठे गए, धाये व्यर्थ हुए और बिहारी नाम के धर्म्य बन्धु कृत-कार्य बने। बिहारी वहाँ सर्वथा कल्पना में से बच आए हैं और गरिमा भी धाप-बीती के धासपास से नहीं उपजी है। इन दोनों चरित्रों की सृष्टि आवश्यक यदि हुई तो धाप-बीती के निमित्त से नहीं बल्कि सर्वथा उस मूल विचार के कारण जिस की सम्पन्नता की ओर कथा-वस्तु को बढ़ते और उठते जाना था।

दूसरा उपन्यास मेरा है 'सुनीता'। कथा का धारम्भ वहाँ भी धाप-बीती नहीं तो धाप-बीती में से हो गया है। लेकिन वह हुआ अब जब इसी प्रकार का एक विचार, या कहना चाहिए प्रथम सेकड़ के मन में उचित हुआ और उस के लिए कथा की आवश्यकता हुई। सुनीता की सारी कथा उद्दिष्टाधीन कल्पना के आधार बुनती गई है। इतना ही है कि कल्पना मनमानी नहीं बल्कि ठर्क के साब-साब धावे बड़ी है। ऐसे यथार्थता के उपादानों का संघर्ष प्रबल करती गई है, लेकिन उन की रक्षा के प्रति कथा ने अपना दायित्व नहीं स्वीकार किया है। (यहाँ तक कि ठर्क सामाजिक यथार्थ की सम्भावनाओं को पार कर गया है। बहुत ऊँचापोह हुआ है उस रचना पर। जास कर सम्पन्नता के प्रसंग पर वहाँ पुस्तक का विचार एक परिस्थिति पर धाया नामून होता है। उपन्यासकार की हिस्रत से मैं ने अपना धर्म बटना पर रुक जाना नहीं माना है।) कारण बटना में से अपने धाप में मैं प्रेरणा ही नहीं पा सता हूँ। अनुमानित सम्भावनाएं मुझ से विद्यती रही हैं और उन्हीं के आधार पर अमुक कथा-वस्तु को से कर मैं रचना करता बसा गया हूँ। उस प्रकार की सुझाव न हो तो मेरा काम धारम्भ ही नहीं हो पाता। इसीलिए 'सुनीता' में मैं ने कहीं सामाजिक यथार्थ का प्रतिक्रमण किया है तो उस में कुछ अग्रगत मुझे नहीं प्रतीत हुआ है। आज भी उस सम्बन्ध में परचाटाप की आवश्यकता नहीं जान पड़ती।

रवीन्द्रनाथ के 'चार अध्याय' की यहाँ याद की जा सकती है। सुनीता में उसका भी किंचित योग रहा है। रवीन्द्रनाथ ने सामाजिक यथार्थ की अपनी रचना में मानो रखा की है। विरस्ती टूटी नहीं है। पत्नी द्वारा परचाटाप कराया गया है और जो नायक महिमामय रूप में कथा के धारम्भ में अवतरित हुआ है अन्त की ओर उस ही स्थिति और परास्त हो कर मुँह बना कर भाग जाना

पड़ा है। मिरस्ती तो सुनीता में भी वहीं दूटी है, लेकिन जिस भाँति उस की रक्षा हुई है वह पसापन का प्रकार नहीं है। 'चार अध्याय' पढ़ते भुके प्रतीत हुआ था कि समस्या-निदान की दृष्टि से उस में पूरा म्याप नहीं हो सका है। सुनीता में उस समस्या-विचार को से कर में बीच में रुकने को तैयार नहीं था न पना यन अपना सकता था। इसलिए हठात् कया को वहाँ तक बढ़ाता जना मया वहाँ तक रुक का छोड़ पाता था। यह सब प्रक्रिया जिस आचार पर सम्भव बन सकी वह मुक्त मोय की अनुभूति नहीं हो सकती थी। वहाँ तो कल्पना और चिन्तन का ही सहारा था।

१) उस के बार 'त्यागपत्र' में भी यही है। यहाँ से वहाँ तक वह कया विमुक्त कल्पना पर चढ़ी है। आप-बीती के तत्त्व छिटके-फूटके रूप में यहाँ-वहाँ बेहे जा सकते हैं पर वे कया के कसेवर में यकान में रूँट की तरह, जिनाई के काम या मय हैं उस से अधिक बर्ब वहाँ उन का नहीं है। सारी कया अन्त में जैसे यह कहने की ओर बढ़ती जाती है कि अपने कुछ-बर्ब में से मिलते प्रकार को प्रस्ती-कार करके जब हम मज्जाकाँठा में उछले-बढ़ते जैसे जाते हैं तब यह जीवन का और व्यक्तित्व का सही विकास नहीं है उस में मुक्ति और पूर्णता नहीं है। उस में केवल अधिमान का पोषण है, जिस में शायद आत्मा का पोषण समाया रहता है। कया कहने वाला वहाँ म्यावाचीय है, आप-बीती के रूप में वह अपने जीवन पर विचार करता है और अन्त में त्यागपत्र देता है। कया के उस पट को बेरे हुए जो उस की बुझा मृगाल है उस का चरित्र सामान्य आँखों से नहीं उस 'म्यावाचीय' की आँखों से देखा गया है जो सन्वेदन में से बल कर निप-बीरो-बात हो पाया है और इसलिए सब में अपना ही म्यावाचीय है। इस म्याप विचार में ही सामान्य यथार्थ की सीमाओं पर रुकना नहीं हो सका है। { २ )

ऐसे अपने एक-एक उपन्यास की चर्चा करने की यहाँ जगह नहीं, प्राव उपकृता भी नहीं है। मैं ने सिखा थोड़ा है और सब यह कि उपन्यास के संबन्ध में कभी कुछ जाना नहीं है। हो सकता है कि उपन्यास मेरे उपन्यास हों ही नहीं मनमईय कुछ ऐसी रचनाएँ हों जिन को उपन्यास की श्रेणी में कृपापूर्वक ही सम्मिलित किया जा सकता हो। जो भी हो मेरे साथ आप-बीती प्रमुख नहीं रही है, कल्पना प्रमुख रही है जो कया को घामे बढ़ा कर उसे स्वयं देती जमी गई है। यहाँ तक कि धर्मिय उपन्यास 'जयवर्मन' इस कदर कोय मईय है कि हब नहीं। वहाँ काल-देव की तनिक यथार्थता नहीं है पाव और चरित्र सब कल्पित और कृत्रिम हैं। साफ और ज़ामर ने जीवन-यथार्थ की भूमिका पर विचारते नहीं मान्य होते हैं। उपन्यासकार की हैसियत से शायद यह असम्भव



हो सकता है और मुझ से क्षमा की प्रार्थना की प्रतीक्षा रखी जा सकती है। लेकिन उपन्यास मेरे लिए इष्ट नहीं है नहीं कोरा निमित्त है। और यह स्वीकार करने में मुझे तनिक असुविधा और दुविधा नहीं आन पड़ती कि मेरा या संसार का अनुभव मेरे भित्तों में छतना नहीं है जितना कि एक तत्वाभिन्न अनुमानवाद है।

वास्तव में मैं बहुत धनीव कभी न था। फैंसी कहानियों पर कान न दीजिए। कहानियों में कुछ का कुछ बन जाया करता है। मैं खुद भी तो कहा नियां पढ़ता था। इस से कहानियों के फरेब को समझता था। किसी कबर उन कहानियों के फरेब पर जिन्या भी रहता था। कहा करता था कि मेरी भित्ताई से सोव मुझे नेक एक मान सेते हैं। बसो धन्य है, ऐसे नेकी फैसली है और बही मुझ तक चिमटी रहती है। लेकिन इस बीषा-भोती के बावजूब मैं प्राप से मान सेने को कहता हू कि बाबमी वह एकदम बुरा न था। एक तो बचह वह कि बसस में बाबमी कोई भी बुरा नहीं होता। दूसरा यह कि जानते-बुझते कीचिध मेरी बही से बचने की रहती थी जैसे कि हर इन्सान की रहती है।

मुझ से मुझ में इरादे की ताकत की कमी वैसी जा सकती है। मैं किस्मत बनाने वालों में से न था किस्मत ही मुझे बनाती गई। जिन्यही मैं मेरी कोई कारगुजारी नबर नहीं पाती।

मैं ने ज्यादा सिखा भी नहीं जिस की बचह बाबमी जानना चाहेया। क्या यह कहना ज्यादा होया कि भायते बस्त को पकड़ने सामक भाय और फुरती मेरे बिभाग में न थी ? या यह कहा जाए कि मेरे धन्यर का बचीरा ही छोड़ा था ? पर इतना सही है कि जो सिखा धीसतन पच्छा सिखा। भापा का मुझे सास ज्ञान न था इस से मुझ में मेरी भापा घटपटी समझी गई। पर धागे जा कर यह धज्ञान धायब भसा साबित हुआ क्योंकि इस से भापा के अकरत से ज्यादा दुस्त होने का बतरा भी नहीं रहा। धाम धिकावत है और ठीक है, कि जो घुलबघानी ताजगी और जिलावट मुझ में रहने में घाई वह मेरे भित्तों में पीछे न रही। रवामी वग बली ताजगी एक घाई और पूस मुमा जिलावट को जगह कहीं उपसब्ध नहीं हो पाती। पड़ीसी को छोड़ दें तो समाज की कोई स्थिति बनती है ऐसा भी मुझे नहीं लगता। तब यदि वह है तो इसी धर्म में कि जैसे वैपता होता है—है भी नहीं भी है।

मैं सुधार या संघोषन की प्रेरणा को स्वीकार नहीं करता। मुझे वह स्वार्थ की भापा जान पड़ती है। स्वार्थ से मुझे चिढ़ नहीं लेकिन अगर वह हो तो उस पर नकार डालने की क्या जरूरत है ? इसलिए सामाजिक या राजकीय

सारा भावार्थवाद मुझे सिर्फ बोधा नाम पड़ता है।

मैं कोई नैकी भी करता नहीं चाहता हूँ। हर उपकार पीछे अपकार बन जाता है। इसलिए अपनी रचनाओं द्वारा किसी सिद्धान्त या मत या प्रमीष्ट का प्रचार चाहूँ तो जगता है यह माहिकार का प्रचार है। मैं तो अपने को सब का सब ईश्वर फेंकना चाहता हूँ।

मह न पूछिए कि मैं लिखता हूँ तो मुक कैसे करता हूँ। पहले सोचता रह जाता था और मुक हो ही न पाता था। तब अन्त में बड़ी सामने रखी और प्रयत्न किवा कि वीक्षण की सूर्य पूरे निमट पर धाई कि कलय को जल देना होया। सूर्य उस काटे पर धाई और मैं लाचार हो गया। ऐसे छहारे की मुझे सब तक बकरत रहती है। दूसरा कोई बैठे तो बार-बार सोलने को काटा तो नहीं जा सकता। सब तक धर्म के नाते ही एक बाक्य के बार दूसरा और फिर तीसरा—इस तरह लिखाते ही जाना पड़ता है।

कहानी लिखता हूँ तो मेरे मन में स्पष्ट कुछ नहीं होता। प्साट तो होता ही नहीं। सिर्फ कहानी का अन्त कुछ-कुछ मन में रहता है। कभी विचार-विन्दु के तो कभी भाव अग्नि के रूप में। उस विन्दु तक कैसे पहुँचा जाए, वह, इस में प्साट-क्साट को होता ही बन रहता है। इस से ज्यादा कुछ मैं जानता नहीं और धिस्य आदि के बारे में खर्चया बेमान हो कर लिखता रहा हूँ। मुझे मरता है जिस ने टेकनीक जाना वह बुना। बी हूँ ऐसा कई बार हुआ है कि अन्त कुछ मन में जा और कहानी बीच में जा कहीं और जा कर खरम हो रही। मेरी एक कहानी 'पत्नी' नाम से जहाँ-तहाँ पाठ्य में या दूसरे सबहों में उद्धृत की जाती है। लिखते समय अन्तिकारी मयवतीचरण का ध्यान या बी अपने मन से घाय ही बकनी हो कर मर गए थे। सोचा था कि उन्हें धानि की बार से नहीं पत्नी की मोर से देखा जाए, तो देखें कैसे बीसते हूँ। सब कल्पना को ले कर बना और किनारे तक जी न था पाया या कि प्रेमचन्द का तकाया पहुँचा कहानी भेजो। देखा कि पाँच छ पन्ने तो सब ही गए हैं तो वे ही भेज दिए, को छत्र गए। धन सुनता हूँ कि बकी 'परफेक्ट' स्टोरी है। धाक होयी परफेक्ट। सबसे कैपियस की जानेया वह कभी ऐसा न मानेगा।

मेरे साथ और भी एक समाधा हुआ है। तकाजे पर प्रेमचन्द को कहानी लिख भेजी 'साँप' भेजिए एक हो-रुफे बाद सार से फिर लाकीद धाई। अन्त में कहानी उई मिली नहीं थी। फिर बार में उठी चीन् पर कुछ लिखा कर किसी दूसरी जगह भेज दिया। जहाँ अभी वह चीन् छपी न थी कि अपने भावनों में प्रेमचन्द को 'साँप' कहायी मित गई और औरन उम्हों ने 'हूँ में

छाप बी। इस तरह भाव भी उस कहानी के बोझ में जीव है। वे दोनों बीजों एक हैं, लेकिन रंग दो हैं।

मई मुझे अपने से डर रहा है। कुछ सामने आए, तो हमेशा बदलने को भी हुआ करता है। मन कभी अपने निज से भरता नहीं है और उसकी नहीं जाता। ऐसे काटने-बदलने का सिमसिमा करने तो उस का धन्त कहाँ है? इस लिए अक्सर मैं यह करता हूँ कि जो निज जाता है उस से धाँध के सामने से हटा जाता है। मुझे इस भाव पर कभी पकड़ाना नहीं पड़ा क्योंकि इसमें बोल कर ही निजाता रहा हूँ। इस से यह बकर है कि कहीं हिज्जे की या भाषा की या पंचगुण की गलती क्यों की क्यों छप जाती है। लेकिन पाठक पर मेरा विश्वास है और मैं जानता हूँ कि ऐसी छोटी-मोटी बाधाओं पर वह घटकेगा नहीं। लेकिन कई बार ऐसा हुआ है कि 'नहीं' बीच में से फूट गया है। अब कौन कष्ट करे कि भाषा के संस्करणों में उसे सुख करें? और ऐसी कई नहीं मुझे अब तक मेरी रचनाओं में चम रही हैं।

मैं क्या मानता हूँ? सब यह कि जानना चाहता रहा हूँ कि क्या मानूँ। सामने सामक कुछ लगता ही नहीं है। बहुत सब को बाँधता है और कौमलें बदलती हुई देखी जाती हैं। इस लिए जिस को बरबस मानना होता है उस कुछ को ही मैं सब मानता हूँ। कुछ को जीवन का मूल सत्य बोधित करने में नाकाम नहीं कुछ का क्या आशय रहा होगा। लेकिन मुझे कुछ तथ्य और कुछ निष्पत्ति (परम सत्य) जान पड़ता है।

कुछ मुझ में सब से पहले अपने को ले कर है। उस के बाद सब परमात्मा को ले कर बाह्य में नहीं रहता इसलिए कोई कुछ भी नहीं रहता। लेकिन परमात्मा को अपनी ओर में ओझल कर देने वाला तत्त्व पुरुष के लिए है स्त्री और स्त्री के लिए पुरुष। इस तरह मेरे लिए वास्तविकता का विमूर्त यह बन जाता है—(१) मैं (पुरुष अथवा स्त्री) (२) वह (स्त्री अथवा पुरुष), (३) परमेश्वर (जो मैं न वह, या दोनों)।

(इन दोनों के बीच सदा-सर्वदा जो उलझ-झुल चला करती है, वही मेरी पृथ्वी है। उस गोरस चमके से कभी निकलता ही पाएगा ऐसी धांधला मुझे नहीं है।) इस लिए उस पृथ्वी में पड़ी होने की धारणा भी मुझे कभी नहीं होती है। मुझे बाहर के घटना के घटाटोप से कुछ भयंसा नहीं है। प्लाट की सामग्री के लिए मुझे खबर देखने तक की भी नहीं सूझती है। जो हुआ जाए दिन होता बीचता। उस में से मैं स्मृति के द्वारा कुछ भी अपने पास रोक रखने की नोट करने की या जुटाने की नहीं सोचता हूँ। अगर सब झूमता चला जाऊँ तो इस में

मुझे कष्ट नहीं होगा बल्कि अच्छा लगेगा। अपने जीवन में परमेश्वर के प्रति मैं इतना हो पाता हूँ न कष्ट हो पाता हूँ। मुझ में अनुराग या विराग, प्रीति या भीति प्यार या नफरत पैदा होती रही और मुझ पर अति एवं सम्पूर्ण करती रही है। तो वह जिस कारण वह भगवत् शयन होता है। जानता हूँ कि वह भगवत् निष्कृत नहीं है। लेकिन यह ही कर पाया है कि वह मेरे लिए तिस्रस्य बनी रहे।

परम्परा से मैं प्रगति का विरोध नहीं देखता हूँ। इस से प्रगति का प्रेम रखते हुए परम्परा के प्रति भी मैं अपने में धारण पाता हूँ। मुझे विस्मय है उन लोगों पर जो परम्परा के सम्मुख से प्रगति का आग्रह चाहते हैं। अभी एक जमाना बीता है जब प्रगति को बड़ी धूम थी। उस प्रगति में बड़ी शीघ्र था कि परम्परा को पहले उच्छिन्न करना होगा और तब प्रगति का सुरूआत होगा। उस जमाने प्रगति का क्या भाव्य हुआ उस जानते हैं। उस समय भी मैं ने कैलाशजी की थी कि परम्परा में से ही को पुच्छित और कलित नहीं होती वह प्रगति नहीं है। मन का भाव उस में हो सकता है, या बकराव और भ्रमभाव भी, टिकाव वहाँ नहीं होता। उल्टा उस में नहीं होता, बिखरना होता है।

ऐसी निष्ठा रखते हुए मैं स्वयं व्यक्ति हूँ कि प्राप्तियों की दृष्टि में परम्परा-विपत्ता को मैं जोट कैसे दे गया। मेरे मन में जोट थी नहीं है नहीं कभी होती भी नहीं। लेकिन इतना धारण है कि वह परम्परा का प्रेम नहीं मोह है जो वहाँ और इस सगुण उस अनुक्रम की कड़ी को बन्द और समाप्त देना चाहता है। अतीत से मात्र तक जो कड़ी हमें धारण रही है उस की धारणता इस में है कि धर्मिय को भी धारणता हुई वह धारण बढ़। परम्परा को वह वहीं जानता, नहीं धारणता, या उसे अतीत से व्यक्ति और अभी से बिहीन करता है। धर्म इसी से जानावैत है। वह निरर्थक है। विषय प्राप्त और धन-पद को भी एक लड़ी में धारणता है वह धर्म है। धर्म इस तरह धारण है। कभी वह मुक्तता नहीं है। संजीवन का तत्त्व उस में धारण लोभ और लज्जक रणता है। जोरित में और धर्म में क्या धारण है—यह यही कि धर्म में से सम्भावनाएँ मिल जाती हैं। सम्भावनाएँ जिस में से धारण हुई, कहना चाहिए धारण ही वहाँ से उठ गई। जीवित परम्परा धारणहीन नहीं होती। वह समाप्त नहीं होती। उस में नामा रूप और प्रकृति में धारित जाने की धारित प्रवाहित होती है।

परम्परा का वह धर्म जो उस प्रवाह को रोकता और बाँधता है धर्म में धनपतता का हठ धारण करना है। वह धर्म निरर्थक और योग्यताहीन होती है।

धारा की बर्महीन मर्यादाहीन उच्छ्वास सम्यति परम्परा के उसी बड़-राग के कारण है। »

स्रोत से धारा निकल कर बहते-बहते रुक जाती है तो क्या होता है। दम-बर्न बनती है, जोड़क बन जाता है। धारा यदि बहती ही जाती है वहाँ तक कि वहाँ वह स्वयं सागर ही न हो जाए तो ऐसी गंगा के किनारे किनारे घनेक नाम और तीर्थ बनते हैं। उसी अस्मानित और अनवरत जीवन प्रवाह के भर्म सूत्र का नाम धर्म है। धर्मका वह धर्म कुछ से धित सम्प्रदाय बना दीखता है, तब ठीक यही घटित हुआ होता है। धर्म पर जब हम बलि आते और निष्कार होते हैं तब हमारे रक्त का धर्म्य ले कर वह अरिष्य और सम्पन्न होता है। अपने ही मोह में जब हम उसे बेर लेना चाहते हैं तब उसी में व्यस्त स्वार्थ की सड़ांध घाने लगती है।

किन्तु यहाँ बात और कहनी थी। वह धर्म-शक्ति की बात। धर्म की शक्ति के उद्धार के साथ ही मानव-संस्कृति का उत्थान है। धर्म यदि उसवार से कुण्ठित होता है सम्पा से धावेस से बबाब से धर्मित और धर्मद्वि किमा जाता है तो उसी ही संस्कृति की पराजय और बर्बरता की वय होती है। धर्म में प्रभाव कहाँ से आता है ? उस प्रभाव का स्रोत हृदय और धारमा है। जितने बहरे में से वह धर्म आया उसमा ही प्रभावशाली होया। महाराई स्नेह की, अनुसूति की। धर्म के प्रभाव से बचने या डरने की आवश्यकता नहीं है। वह आवश्यकता उसी को हो सकती है जो धर्म-करण है बिपरोध बनना चाहता है, जो उत्कृष्ट से बनना और अपकृष्ट से बिचनना चाहता है। धर्म के प्रसर को जीतना बहुत आसान भी है मजुरतर और मज्जीरतर धर्म से पहल का हस्का प्रसर सहज ही जुल जाता है। अर्थात् धर्म की काट के लिए जपाप भी धर्म ही है।

उन सब शीर्षों की जिन की भावनाएं उत्कृष्ट हैं जिन के बिचार महान् और सार्विक हैं चाहिए कि दूसरे और सब जपापों का धर्मसम्पन्न छोड़ दें। जूभा कोष या धावेस का बबाब कामने की उम्मे आवश्यकता ही नहीं है। धर्मत धर्म का धामुध उन्हें बहुत होना। स्निग्धतर, सीम्पतर, सत्यतर धर्म। धर्मों में धपना वस्तुस्य समझ न सा कर यदि न दूसरी तिकड़म से काम करते हैं तो कैसे माना जाएगा कि धाव और बिचार उन के उच्च और निम्न हैं।

धारा का संकट यही है। धर्म जीन हो रहा है। धारम-बिज्ञान के भाव से और धर्मवाद के धर्मों से जो बातावरण व्याप्त है धर्म-निष्ठा ही टूटी जा रही है। मर्मों की धोपो-बिज्ञप्तिर्यों की धलवारों की भरमार है। उस कोताहन

में आवेस से हीन और प्रीति से मुक्त राज्य आसानी से खी सकता है। फिर भी मानव का उदार राज्य के साथ है और श्रेष्ठ पुरुषों को चाहिए कि वे राज्य वाले कम करें पर वे उन्हें बिना में सत्, स्नेह और संकल्प का बस हो।

जीवन में अम की बढ़ा हुआ ता कठिन नहीं जान पड़ता। पर आदमी में जो काम और कामना है, कठिनता उस को से कर होती है। पर काम और अम ये ही असल पुरुषार्थ भी हैं। धर्म पूर्वक इन दो पुरुषार्थों का शाखा जाए तो मोक्ष कसित होता कहा गया है। मेरा मानना है कि मूल मानवदृष्टि प्रेम है। वह कट-बंट जाती है तो समस्या पैदा होती है। अर्थात् प्रेम यदि मानव में समग्र और संपूर्ण हो सके तो उस से समाधान मिलना चाहिए। इसी को फिर चाहे मोक्ष कह दिया जाए। यानी अलग-अलग अम आत्मिक। धर्म एवं काम का समाहार प्रेम से सम्भव नहीं नहीं है। इस समय अतीन्द्रिय प्रेम का नाम ही है अहिंसा। अहिंसा से मोक्ष है यह कहना मुझे अधिक सार्थक लगता है। सत्य बिना अहिंसा के असम्भव ही रहेगा।

## विचार-धारा

इनका जीवन भी स्वयं जनेन्द्र जी ने किया है

### लोक-शक्ति के लिए लोक-भाषा चाहिए

प्रश्न क्या वास्तविक विस्तार रखते हैं कि हमारी सरकार अंग्रेजी की शिक्षा-पद्धति में से निकाल देने को उत्सुक है ? क्या सचमुच वह भारतीय भाषाओं की जन का उचित स्थान देने के महत्त्व को महसूस करती है ?

उत्तर अपनी सरकार के बारे में अनुमान से काम लेना मैं नहीं चाहता । उस घोर से जो वक्तव्य आते हैं उन्हीं को क्यों का क्यों मान कर क्यों न बना जाए । सब यह कि सरकारों में झंझा नहीं हुमा करती । अपनी सरकार में तो संकल्प के बल तक का धनाढ्य है । बहुत कुछ आये आने वाले समय और लोक-स्थिति पर निर्भर करता है । यों देखने में भारतीयता हास पर है, अंग्रेजियत बढ़ रही है । इस तरह अंग्रेजी का महत्त्व या उस भाषा की निर्भरता कम होती नहीं सीकती है । यों संसद् का निश्चय है कि सन् १९१५ से काम हिन्दी के द्वारा होने लगेगा लेकिन साथ यह भी स्पष्ट किया जा चुका है कि अंग्रेजी का उपयोग निषिद्ध नहीं टहराया जाएगा और वह मानो दूसरी राजभाषा रहेगी । इस दूसरे निर्णय के साथ पहले उस का क्या अभिप्राय है, यह देखने की ही बात है ।

कांग्रेस सरकार में जनता के साथ एकाकार होने की कोई प्रावृत्ति नहीं दिखाई देती है । लोक-तन्त्र में बड़ी सब से बड़ी घोरता होनी चाहिए । मैं मानता हूँ कि लोक-बल सही और सच्चे तौर पर शासन को नहीं प्राप्त होगा अगर उस का नाम-काम लोक-भाषा और जन भाषा के द्वारा नहीं चलेगा । कांग्रेस की सरकार मानो अंग्रेजी पढ़े लिखे अधिकारी के लोगों पर अपना ज्यादा बिरास और भार रखती है । उस के बाद लोक-निर्भर और लोक-निष्ठ होने की चिन्ता से मानो वह मुक्त हो जाती है । नए चुनाव जब आयेंगे तब सम्भव है कि कांग्रेसी लोगों को यह चिन्ता फिर उठाने में और उन्हें यह अनुभव प्राप्त हो कि लोक-परिणत-सम्पादन की दृष्टि से लोक भाषा का आवश्यकता अनिवार्य है । लेकिन

सामान्यतया जो रख है, उस को देखते हुए कांग्रेसी राज्य से हिन्दी या भारतीय भाषाओं के महत्व को कांग्रेसी से अधिक करने की दिशा में कुछ विशेष ध्यान नहीं रखा जा सकता।

**प्रश्न** क्या धार का विश्वास है कि उच्चतम तकनीकी शिक्षा के लिए भारतीय भाषाएं उपयोगी साबित हो सकेंगी? और, यदि धारजी को हटा दिया गया तो भारत वैज्ञानिक क्षेत्र में संकीर्ण बना नहीं बीछ पड़ेगा?

**उत्तर** यह मूल है कि ज्ञान या विज्ञान समुक्त भाषा से जुड़े हैं। भारतीय भाषाओं को हीन मानना इसमें भारतीय जन और जनता को हीन मानने में से ही कतिपय होता है। यह अपने सम्बन्ध की दृष्टि से हमें बड़ी मईगी पड़ रही है। कुछ पहले तक विज्ञान में उस पिछड़ा था। आज सब से धार है। तो क्या वहाँ वैज्ञानिक शिक्षा किसी विदेशी भाषा द्वारा दी जा भी गई थी। जापान पिछड़ा हुआ तो नहीं माना जा सकता। जापानी भाषा में यह समता एकाएक कहाँ से आ गई कि वहाँ सब विज्ञान पहुँच गए, सिद्ध हो गए और जापान की प्रगति किसी से कम न रह गई? यह कोरा धारम-ईश्वर है, जो अपने दोष को भाषा पर बल्लता है और इस तरह विदेशी भाषा की शक्ति को छोड़ना नहीं चाहता। एक मोहम्मद साहब के बल-बूते पर अरबी भाषा में एक साय अल्लम और बीमब आ चुका। पहले वह भाषा हीन और हीन बनी हुई थी। अमरा या अछमता स्वयं भाषा में नहीं हुआ करती, उस भाषा के बोलने वालों की ही अमरा या अछमता वहाँ प्रतिबिम्बित होती है। यह सब बर्षा कि इस या उस भाषा में तकनीकी या वैज्ञानिक या पारिवारिक दृष्ट्यावलि नहीं है, अविश्वस्त बर्ष की बर्षा है। उस पर जो धटकता है, वह मानो गठानुमतिक हो कर बनना चाहता है। उस में मौलिक धडा और अंतर्भाव नहीं है। मैं उस पर एक अण नहीं धटकना चाहता। देश के संरक्षण-बल का क्यों हम ने आवाहन नहीं किया, क्यों स्वराज्य मिलने पर कांग्रेसी की वरावतमिता को स्वीकार कर लिया? उस समय सब काम हम ने अनुवाद और अनुकरण द्वारा किया। संविधान दूसरे देशों के वैधानों की नकल में अंतर और-ओर के साथ हम ने तैयार किया। उल्टे हुए राष्ट्र की धारम-धडा का बल मान कर हम नहीं बल धर्मया भारत एक धनोसी शक्ति का धटकना सब तकता और धार की धर्मराष्ट्रीयता के लिए एक मार्ग दर्शन दे सकता। पर अंतर नहीं हुआ तो सिवा इस के क्या कहा जाए कि हमारे राजनीतिक धाम विज्ञाता हीन विश्वास और धर्म-धडा के केवल काम काजी मोप निकले शक्तिकारी ने नहीं सिद्ध हुए।



## पारिभाषिक शब्द किस भाषा में

**प्रश्न** मानिए कि सरकार ने आप की बात को मान कर अंग्रेजी को धाज ही समाप्त कर दिया। अब आप कौन-सी भारतीय भाषा में पारिभाषिक शब्दों का निर्माण करेंगे ? हिन्दी में करते हैं तो बलिष्ठा बाने इसे हिन्दी का साम्राज्यवाद कहते हैं और सुसम्मान इसे इस्लाम से सम्बन्धित मानते हैं। बंगाली भी हिन्दी को बंगला की महत्ता के लिए प्रतिद्वन्द्वी के रूप में देखते हैं। आखिर सम्पूर्ण भारत के लिए एक ही पारिभाषिक सम्भावना चाहिए। इस समस्या का आप के पास क्या निदान है ?

**उत्तर** समस्या का निकाल या निपटारा तब होता और हो सकता है, जब तय हो कि वह हमें करना है। नहीं तो समस्या समस्या रहती है और हम को बचा लेती है। मुझे सब से पहले यही कहना है कि संकल्प से हम ने समस्या को बड़ा बना कर रखा। जो व्यक्ति वा देख इस ढंग से चलता है वह नहीं बड़ता उस की समस्याएं ही बड़ती हैं।

## भाज सकल्प का अभाव

भाज भाषावाद प्रान्तवाद आतिवाद छाया हुआ है। हम हीरान हैं। सन् बीस-बाईस और तीस-बत्तीस में स्थिति क्या थी ? वे सब बात क्यों अब उसने और तब उन का बीज भी क्यों जबरन धाता वा ? देख यों देखें तो काफ़ी घावे बड़ा है और राष्ट्र के बजट के बँक जाने कितने गुणानुप्राणित हो गए हैं। लेकिन सब यह है कि तब एक अनुपम भाव-सम्पन्नता का हमें बोध था अब एक विपन्नता का भाव घेरे हुए है। कारण यह कि प्रान्तरिक ईर्ष्य हमारे भीतर समा गया है। हम परिस्थिति में से छर्क लेते हैं जो हमारा प्रतिभिया का होता है। संकल्प में से अपने कदम का निर्भय नहीं करते जो प्रवृत्ति का हो सकता है। एक महत्त्वपूर्ण उस महारथा से घा कर देख में भर गया वा। उस समय देशवासियों को कुछ कठिन और असम्भव नहीं मान्य होता वा। आज एक-एक बात माना बिकस्यों और बिबाओं से हमें घेर लेती है। मान्य होता है कि मंदर बड़ा है और हम छोटे हैं।

## जीवन-प्रेरणा की मन्दता

हिन्दी और पारिभाषिक सम्भावना की आप बात कहते हैं। करते हैं कि दक्षिण और बंगाल हिन्दी को क्यों मानें ? पारिभाषिक सम्भावना एक होनी]

बाहिए धीर वह एक कैसे बने ? इत्यादि-इत्यादि भाषा प्रश्न वेदा क्रिये जा सकते हैं धीर नहीं-का-वहीं गड़ कर बैठे रहा जा सकता है। उठने वाले देख इस रंग से काम नहीं किया करते। पारिभाषिक धीर ब्रह्मानिक पर्यायवाची शब्द धर्म या प्रत्येक भी बनते हैं, तो क्या हमें है ? समय माने पर चुनाव धीर छंटाव हो जाएगा धीर समुक्त को प्रामाणिक मान लिया जाएगा। लेकिन प्रश्न यह है कि हमें काम करना है या बात करनी है ? भाव विवर्ती के कारीपर को विवर्ती नहीं लपानी होती है। तो वह इस अफसर में नहीं पड़ता कि वह पोबिटिव-निगेटिव को क्या कहे ? क्या पर्याय पुट धीर बनाने होया ? वह "ठंडा धीर घम सार" कह कर अपना काम बना लेता है धीर सकता नहीं है। हो सकता है कि गर्म धीर ठण्डा पोबिटिव-निगेटिव का धीर अनुवाद न हो। सही क्या है इस के निर्बंध में धूप समय लेना चाहें तो लेते रह सकते हैं। लेकिन असल चीज यह है कि वक्त पर काम करना नहीं चाहिए जो सन्नों के फेर में रोक रखा जाता है। इस में जीवन-श्रेया की मन्दता है इस के बिना क्या कहा जा सकता है ?

### अनुकरण का फैसन

मैं मानता हूँ कि ऊपर केन्द्रीय-सरकार में प्रश्न जा पहुँचे शब्द का बज गया, काम का नहीं रहा। तो यह मन्द-घड़वा का ही परिचाय था। धाप कौश बनाइए धीर बनाते चले जाइए। कभी इस बोध से धाप को छुकारा नहीं मिल सकता कि अनेकानेक शब्द इस बीच ऐसे घा बने हैं। बिन का पर्वत धाप के पास नहीं है। अनन्त काम तक धाप सब शब्दों को अपनी भाषा में लाने में सफल नहीं हो सकते। धपर धापा की सामर्थ्य इसी पर निर्भर रहेगी धीर धाप उस भाषा में काम बनाने को इस धर्त पर स्थिति करती रहेंगे, तो धाप बने रह जायेंगे भाषा एकी रह जाएगी धीर बनाना धाप का छोड़ता हुआ ऊपर से निकलता बना जाएगा। या धाप अनुकरण-प्रियता में ही मग्न हुए रहेंगे धीर अपनी धारणा धीर अन्तरंगता से बिछड़े बने रह जायेंगे। संवेदी को काम कर भारत उसी अनुकरण प्रियता में बह रहा है धीर अपनी धारणा से हीन धीर विमुक्त बना जा रहा है। इसी निहीनता का यह तक है कि क्या करें, हम दीन हैं, हमारी भाषा दीन है। बकस करने धीर उरुषा करने के बिना हमारे लिए धीर बलि नहीं है।

ज्ञान-विज्ञान एक भाषा से अद्विष्ट नहीं

निश्चय रखना चाहिए कि ज्ञान-विज्ञान समूची मनुष्य-जाति की निधि धीर

स्वत्व है और देश या भाषा की बचीटी उस पर नहीं होती। प्रमुख देश या भाषा में वह उपलब्ध या प्रकट हुआ हो सकता है लेकिन उस भाषा-देश से वह अंकित नहीं होता। अपनी अपनी भाषा द्वारा सब लोग अपनाया उस का नाम और सार प्राप्त करते और उसे आत्मसात् कर लेते हैं। इस प्रक्रिया को रोक नहीं जा सकता। वह भाषा नहीं बल्कि वे लोग ही पराधीन हैं, जो उस को सीधे लेने में असमर्थ हैं और ज्ञान से अधिक उस के परिवेष्ट को महत्व देते हैं। शब्दों को पहचान सीखने और निरे अनुवाद द्वारा ज्ञान तक पहुँचने की पद्धति प्रबोधनमय और अकार्यकारी है। शब्दों को ही हम देखें कि भाषा कभी कोई नहीं सिखाता और वे अपनाया सीख जाते हैं। कारण, भाषा को प्रत्यक्ष-प्रत्यक्ष शब्दों-शब्दों द्वारा वे ग्रहण नहीं करते बीचोबीच द्वारा लेते हैं। ऐसे ही ज्ञान को प्रत्यक्ष-प्रत्यक्ष शब्दों से अंकित हम मान लेते हैं तो उस की कठिनाई पर घटक जाते हैं और आधान-प्रधान की गति अवरुद्ध हो जाती है। सरकार को इस अव्यवस्था से इसनिश्चिन्ता और मन्द पड़ जाना हुआ कि उस के पास महा-संकल्प का सबल मण्ड हो चुका था और आज स्वराज्य के चौदह वर्षों के बाद भी अनुभव होता है कि अंग्रेज स्वराज्य का किञ्चित् भोग्य भारत को प्राप्त है तो वह अंग्रेजी भाषा बर्षों को ही प्राप्त है। रोप तो एक वन कोरे रह गए हैं। स्वराज्य की यह पराधीनता सबमुख बहुत शोचनीय है और तनिक दबाव पड़ते ही अंग्रेजी के समाधान में बच निकलने की आस कम शोचनीय नहीं है।

प्रश्न शिक्षा-अभ्यास का शिक्षी-विभाग पारिभाषिक शब्दों के क्षेत्र में जो काम कर रहा है उसे क्या आप उपयोगी और ठीक शिक्षा की ओर प्रवृत्ति मानते हैं ?

उत्तर अच्छा होता वह काम सरकारी विभाग न करता बल्कि जनता कर रही होती। जनता कहे कर सकती है वह प्रश्न मत उठाए। सब काम काम करने की अनिवार्यता ही जनता को अनकालेक शब्द प्रस्तुत करने तक ले जाती है। आज भी यह काम ठीकी से हो रहा है। अम्बई और कलकत्ते में बने फ़िल्म-चित्र देश के हर कोने में बिराए जाते हैं। इसी तरह जनता के सब वर्गों में जीवन की अनिवार्यता से ये मांग शुरू हो चुकी होती और अनेकानेक शब्दों का निर्माण हो गया होता। विभाग द्वारा वह काम न केवल स्वल्प हुआ है बल्कि सम्भव है कि वह उपयोगिता से कुछ हटा हुआ भी हो। कारण वह विद्वान्त के धस से किया गया है। कार्यकारी उपयोगिता की कसीटी वहाँ प्रस्तुत नहीं रही है। इस काम में एक भुविषा मानी जा सकती है और वह यह कि इस प्रकार बनी हुई शब्दावली एक साथ प्रामाणिक और सर्वमान्य हो कर आयी। पर

सम्भव हो सकता है कि बहुत-से शहर उपयोग में लगे हुए नहीं और कुछ शहर उपयोग में आकर भी जलन में लगे नहीं जायेंगे। जलता शहर यह प्रक्रिया सम्भव होती तो सम्भव था कि अनेकानेक शहर विकसित सामने आते और कोई एक प्रामाणिक साम्राज्यी प्राप्त न होती। लेकिन प्रमाणीकरण का काम कोई एक मामूली केन्द्रीय समिति पीछे कर सकती थी और वह यह कार्य सुगम भी होता। वह सब उपयोगिता से मुक्त भी बना रह सकता था। जब हम न जीवन से आता से उपयोग से प्राप्त मानो समीप सम्पर्क से विपुल भाषा प्रत्यक्ष में से शब्द-निर्माण करना चाहते हैं। इस प्रयत्न में न इतिहास को पूरी तरह बचाया जा सकता है न समय के व्यर्थ प्रभाव को।

### स्वल्प-फल, बहु-विधात

विनाश शक्ति को काम हुआ है, उसे अनुसूची नहीं कह सकते। पर स्वल्प फल बहु-विधात प्रत्यक्ष कहा जा सकता है। सब यह कि सामान्य सरकार ने अपने ऊपर धारण्यक और पर यह भी बहुत शक्ति से निपा है, जो प्रजा जन में बाँट कर दिया जा सकता था। सहायता का काम ही सरकार का होना चाहिए था। पापासम्बन्धी निर्दिष्ट धारि का कार्य स्वयं उस प्रकार की धारण्यकता के ईशान्ति व्यवहार में पड़े लोगों पर छोड़ना चाहिए था। किन्तु वह प्रत्यक्ष स्वयं धारण्यकता धारण्यकता का बन जाता है। मानना चाहिए कि कैबिनेट स्टेट का धारण्यकता का लोगों को छोड़ना नहीं चाहिए-के-प्रति को धारण्यकता धारण्यकता और इतिहास के निकट पहुंचता जा रहा है। परे जैसा कुछ लाभ और धारण्यकता न मानते होंगे पर सब नहीं है यह स्पष्ट है।

### हिन्दी अलावा और टलाना

विनाश-अलावा धारण्यकता और धारण्यकता देखा तो अच्छा ही है। लेकिन सब के सब निया है और यह धारण्यकता सब राज्यों से स्वीकृति पाए, इस में और समय लगेगा। जमान में आए, इस प्रयोग में और भी समय लगेगा। धारण्यकता मन्त्रालय का यह सब प्रयत्न हिन्दी के माध्यम को प्रचलन में लाने की धारण्यकता के धारण्यकता धारण्यकता का कार्य-साथ भी निजता बना जा सकता है। यही लाभ भी विशेषता है कि एक स्तर पर हिन्दी को बनाने के प्रयत्न कम सकते हैं उन्ही सरकार में दूसरे स्तर पर हिन्दी को टालने के प्रयत्न कम करने हैं। दोनों में सब सब होता रह सकता है और दोनों जगहों को सम्पूर्ण रखा जा सकता है। यदि मैं विचार कर सकूँ कि हिन्दी पर उन्ही जगहों की धारण्यकता और

अंग्रेजी की परावसम्भिता ॥ अस्वी-से-अस्वी छूटने की धातुरता सरकार में काम कर रही है तो शिक्षा-मन्त्रालय के हिन्दी-विषयक काम का महत्व बढ़ जाता है। परिस्थिति में वैसा आग्रह नजर नहीं आता है। इस तरह वह प्रयत्न काच मापन का बंन-सरीखा भी बान पड़ता है और उस से पूरी साम्बन्धता नहीं होती है।

प्रश्न क्या आप मानते हैं कि संस्कृत को ही पारिभाषिक धम्मावली का आधार बनाया जाए और बनाया जाना चाहिए ?

उत्तर सिद्धान्तपूर्वक चसना ही मुझे सही नहीं मामूम होता है। संस्कृत बहुत उपयोगी हो सकती है इस काम में। लेकिन उस के साथ प्रग बीड़ना हठ का बोधक है और दृष्ट नहीं है। सब यह है कि भाषा के सम्बन्ध में सामने जीवन के प्रयोजन को रख कर हम चर्चें तभी समझावी रह सकेंगे। अन्यथा कोई-न कोई बाबिता हम को प्रस लेनी। उस प्रकार भाषा के प्रवाह में हमारे हाथ बेव या सामर्थ्य नहीं आएगा। बल्कि उस में कुछ गांठ पड़ेनी और ऊपर का घाटोप और बनाव प्रमुमम होगा। इसी से पण्डित और विद्वानों से भाषा का उठना निर्माण या संस्कार नहीं हुआ करता बिठना रचनाकार हाथ होता है। कारण उस के ह्रास में भाषा स्वयं साध्य नहीं होती बल्कि लैबेस की मांति बीड़ना मिश्रित के प्रति समर्पणीय धर्म के समान होती है। कहे जाने वाले उद्-नों पर यह काम छोड़ने से हो सकता है कि समानान्तर हम को दो धर्म-सूचिका मिलें। एक सूची लोक भाषा की हो और दूसरी विद्वान भाषा की समझी जाए। सासन और देस-काव की दृष्टि से यह समानान्तरता उपयोगी नहीं होगी और लोक-राज का तात्पर्य सिद्ध होगा तो तब जब लोक-भाषा और साधु-भाषा में व्यवधान ज्यादा नहीं होगा बल्कि कम होता जाएगा।

## एकमुरेसी और करेन्सी के बीच

बितने धर्म भूमि-ईशान धर्म्यर्क हमें उठने भाषा प्रवाह में सहज चपटे जाएं। लेकिन कहीं निर्माण भी आवश्यक होगा। किसी हठ और सिद्धान्त के सहारे यह निर्माण सुगम भले हो जाए, लेकिन भाषा की प्रकृति में बैठ सकने वाला धर्म चाहिए। एकमुरेसी और करेन्सी के बीच दोनों को सम्मिलित हुए, धर्म-निर्माण के काम को करना चाहिए। सही-सही होना और प्रभावमम होना इन दोनों सिद्धिओं का ध्यान तभी रखा जा सकता है जब जीवन प्रयोजन के प्रति चित्त में सावधानता हो और इस से इधर उधर भाषा सम्बन्धी कोई राग या घासक्ति-भाव न हो। इस दृष्टि से विद्वानों से अधिक सामान्य जन का योग इस काम में अधिक विरहसमीय और लाभकारी हो सकता है।

## सत्याग्रह

**प्रश्न** जब कोई सत्य पूर्ण, निरपेक्ष और अस्तिम नहीं है तब सत्याग्रह का क्या मूल्य और स्थान रहे क्या आप मानते हैं ?

**उत्तर** आग्रह अपूर्ण में ही हो सकता है अथवा आग्रह के लिए अन्याय ही नहीं रहता है। विद्रोह के लिए सत्याग्रह अस्तिम बनता है। साधक के लिए सत्याग्रह ही मार्ग है।

अपूर्ण के लिए आग्रह इसलिए अस्तिम बनता है कि पूर्ण पाने का और उपाय नहीं है। व्यक्ति अपूर्ण है जो सत्य के रूप में उस में प्रतिमासित हुआ है वह भी अपूर्ण ही है। वह अपूर्ण कह कर उसे वह छोड़ नहीं सकता। उसी के सहारे उसे जीना और मरना है। व्यक्तिगत धर्म इसलिए सत्य के उस रूप के प्रति अग्रह आग्रह का ही रह जाता है।

## अहिंसा की पीठ पर सत्य अनिवार्य

सच्चा साधक जानेवाला कि सत्य अनन्त है। जिस पर आग्रह है सत्य उस जितना ही नहीं है। इसलिए आग्रह रख कर भी सत्याग्रही अन्न और सबिन्ध रहेगा। जीवन स्वीकार और इनकार इन दोनों तटों को रख कर ही चल सकता है। अर्थात् निरपेक्ष की अस्ति जीवन-समर्थ में अस्ति है। अहिंसा में मान स्वीकार है जीवन अहिंसा से अस्ति और अन्याय प्राप्त करता है। अस्ति में अस्ति सत्य के आग्रह में से ही प्राप्त होती है। अन्याय के बिना अहिंसा अस्तिम है। अर्थ सत्याग्रह में से अन्न पाता है। अस्ति और अर्थ सब अहाँ से आता है। अहिंसा के योग से जो होता है सो वह कि अन्न अर्थ में अन्न नहीं पैदा होता और उन अस्ति से अस्ति में अन्न नहीं आता। अस्ति स्पष्ट रहना चाहिए कि केवल अहिंसा अर्थ को लाती है जीवन की समता के लिए सत्य का आग्रह अनिवार्य अर्थ होता है। अर्थ मानो अस्ति का सामने का अर्थ है उस के बिना अहिंसा अस्ति हीन हो जाती है। अहिंसा मानो उस की पीठ है कि अस्ति अन्न को अन्न समझ रहना चाहिए।

**प्रश्न** जब सभी सत्य अपूर्ण, व्यक्तिगत और अपेक्ष हैं तब आग्रह का अधिकार व्यक्ति को नहीं रहा ? क्योंकि व्यवहार में आग्रह में से ही अमानुष-विषता अन्न होती है।

**उत्तर** अस्ति में यों अहिंसा कि सत्य की पूर्णता की अस्ति के लिए व्यक्ति के अन्न प्राप्त अपूर्ण सत्य के प्रति आग्रह और अर्थ का ही एक अधिकार रहे

परदेसी की परावसासिता से जल्दी-से-जल्दी छूटने की आतुरता सरकार में काम कर रही है तो शिक्षा-भ्रमालय के हिन्दी-विषयक काम का महत्व बढ़ जाता है। परिस्थिति में बैसा माधु नजर नहीं आता है। इस तरह वह प्रयत्न कास यापन का डंग-सरीखा भी जान पड़ता है और उस से पूरी साम्यता नहीं होती है।

प्रश्न क्या आप मानते हैं कि संस्कृत को ही पारिभाषिक सम्भावना का आधार बनाया जाए और बनाया जाना चाहिए ?

उत्तर सिङ्गान्तपूर्वक जसना ही मुझे सही नहीं मानून होता है। संस्कृत बहुत उपयोगी हो सकती है इस काम में। लेकिन उस के साथ प्रश्न जोड़ना हठ का द्योतक है और दृष्ट नहीं है। सच यह है कि भाषा के सम्बन्ध में सामने जीवन के प्रयोजन को रख कर हम जैसे-तुसी समझावी रह सकते हैं। भयभीत कोई-न कोई बाधित हम को प्रस सेवी। उस प्रकार भाषा के प्रवाह में हमारे द्वारा वेप या सामर्थ्य नहीं आया। बल्कि उस में कुछ पाठ पड़ेगी और ऊपर का आरोप और दबाव अनुभव होगा। इसी से पश्चित और चिन्त लोगों से भाषा का बतना निर्माण का संस्कार नहीं हुआ करता चितना रचनाकार द्वारा होता है। कारण उस के हाथ में भाषा स्वयं साध्य नहीं होती बल्कि वैशेष की भांति जीवन मिश्रित के प्रति समर्पणीय प्रार्थ के समान होती है। कहे जाने वाले तद्-अर्थ पर यह काम जोड़ने से ही सकता है कि स्यानाम्तर हम को दो खर-बुनियाँ मिलें। एक सूची लोक भाषा की हो और दूसरी मित्र-भाषा की समझी जाए। सासन और देश-काव की दृष्टि से यह समानान्तरता उपयोगी नहीं होती और लोक-तन्त्र का ताप्य छिड़ होना तो तब जब लोक भाषा और साधु-भाषा में व्यवधान ज्यादा नहीं होना बल्कि कम होता जाएगा।

### एनयुरेसी और करेन्सी के बीच

चितने धर्म भूमि-वैशेष व्यवर्धक होंगे उत्तने भाषा प्रवाह में तहज अपने जाएंगे। लेकिन कहीं निर्माण भी आवश्यक होगा। किसी हठ और सिङ्गान्त के सहारे यह निर्माण सुमम मसे हो जाए, लेकिन भाषा की प्रकृति में बैठ सके नामा दण्ड चाहिए। एनयुरेसी और करेन्सी के बीच दोनों की सम्भावनाएँ, सम्प-निर्माण के काम को करना चाहिए। सही-सही होना और प्रभावमय होना इन दोनों सिद्धियों का ध्यान सभी रखा जा सकता है जब जीवन प्रयोजन के प्रति चित में सावधानता हो और इस से दपर-उधर भाषा सम्बन्धी कोई राग या घासित भाव न हो। इस दृष्टि से मित्र से अधिक सामान्य जन का दोन इस काम में अधिक विरबलनीय और नामकारी हो सकता है।

## सत्याग्रह

**प्रश्न** जब कोई सत्य धर्म, निरपेक्ष और अनन्त नहीं है, तब सत्याग्रह का क्या मूल्य और स्थान रहे क्या धाय मानते हैं ?

**उत्तर** आग्रह धर्म में ही हो सकता है। सम्यक् आग्रह के लिए धर्मकाण्ड ही नहीं रहता है। सिद्ध के लिए सत्याग्रह प्रसिद्ध बनता है। साधक के लिए सत्याग्रह ही मार्ग है।

धर्म के लिए आग्रह इसलिए उचित बनता है कि धर्म मानने का और उपाय नहीं है। व्यक्ति धर्म है, जो सत्य के रूप में उस में प्रतिभासित हुआ है वह भी धर्म ही है। पर धर्म कह कर उसे वह छोड़ नहीं सकता। उसी के सहारे उसे जीना और मरना है। व्यक्तिगत धर्म इसलिए सत्य के उस रूप के प्रति अनन्य आग्रह का ही रह जाता है।

## अहिंसा की पीठ पर सत्य अनिवार्य

सच्चा साधक मानेगा कि सत्य अनन्त है। जिस पर आग्रह है सत्य उस जितना ही नहीं है। इसलिए आग्रह रख कर भी सत्याग्रही मर और सविनय रहेगा। जीवन स्वीकार और इनकार इन दोनों तटों को रख कर ही चल सकता है। अहिंसा निरपेक्ष की दृष्टि जीवन-समर्थ में पवित्र है। अहिंसा में मात्र स्वीकार है जीवन अहिंसा से स्थिति और व्यवहार प्राप्त करता है। स्थिति में सत्य के आग्रह में से ही प्राप्त होती है। सत्याग्रह के बिना अहिंसा निष्प्रिय है। कर्म सत्याग्रह में से जन्म पाता है। सत्य और वैम सब वहाँ से पाता है। अहिंसा के योग से जो होता है सो यह कि उस कर्म में जन्म नहीं पैदा होता और उस सत्य से स्थिति में भय नहीं पाता। लेकिन स्पष्ट रहना चाहिए कि केवल अहिंसा वैम की खाती है, जीवन की समता के लिए सत्य का आग्रह अनिवार्य धर्म होता है। वह मानो तिरके का सामने का रस है उन के बिना अहिंसा मूल्य हीन हो जाती है। अहिंसा मानो उस की पीठ है कि जिस सत्य की हमें समझ रहना चाहिए।

**प्रश्न** : जब सभी सत्य धर्म, व्यक्तिगत और अपेक्ष हैं तब आग्रह का अधिकार व्यक्ति को नहीं रहा ? क्योंकि व्यवहार में आग्रह में से ही अमान-विपत्ति जन्म लेती है।

**उत्तर** बल्कि मैं यों कहूँ कि सत्य की पूर्णता की प्राप्ति के लिए व्यक्ति के पास प्राप्त धर्म सत्य के प्रति आग्रह और धर्म का ही एक अधिकार रहे



जाता है। उस से समय और अधिक कुछ उस का अधिकार होता ही नहीं है।

### अमानुषिकता अविनय प्रसूत

ही आग्रह से संघर्ष निकलता है। वह संघर्ष अमानुषिक यदि होता है तो तब जब विनय की सर्व छूट और दूट जाती है। यदि विनयता की शर्त के साथ नहीं तो सच्चे आग्रह में से निकला हुआ संघर्ष माननीय ही नहीं है। तब तक हो जाता है। कर्म-मुक्त यदि कर्म-मुक्त बनता है तो तभी जब एक ओर है धर्म की मर्यादाओं की रक्षा प्रथम और शत्रु का पराजय मानो द्वितीय हो जाता है। ऐसे कर्म-मुक्त में से ही संस्कारिता निकलती और संस्कृति सम्पन्न होती है।

### सत्याग्रह विवशताजन्य, स्वयं-प्राप्त

इसलिए सत्याग्रह के साथ शर्त नहीं हो सकती। उसमें सरलता नहीं हो सकती। सौम्यतर और साम्यता की भाषा बुद्धि की है। वह दूसरे की ओर से जा सकती है स्वयं सत्याग्रही की ओर से उस प्रकार की भाषा के लिए कोई प्रयत्न ही नहीं रह जाता। मैं मानता हूँ कि सत्याग्रह मनुष्य के पास वह मायुष्य है जो ईश्वरीय है। उस का समर्पण बुनिया में से किसी तरह भी नहीं जा सकता है। बुनिया की ओर का कोई प्रीतिपूर्ण सत्याग्रह को उचित नहीं कहा सकता। उस प्रकार का सब तर्क और सब विचार मानो बाहरी होता है। सत्याग्रह आन्तरिक विवशता में से कूटता है। उस के प्रीतिपूर्ण का निर्धारण किन्हीं बाह्य विचार पर निर्भर नहीं हो सकता। परिस्थिति की ओरता से अधिक व्यक्ति की प्रवृत्ति और अधिकता में से वह बनता है। स्थिति के साथ व्यक्ति का सम्बन्ध उस प्रवृत्ति में इतना घट जाता है कि मानो समष्टि के सम्बन्ध में जा मिलता हो। मानो व्यक्ति का अणुका स्वयं परमेश्वर से हो परिस्थिति से रह ही न गया हो। अर्थात् सत्याग्रह बहु कर्म है जिसका स्वयं सांसारिक रहता ही नहीं पूरी तरह आध्यात्मिक हो जाता है। उसके भीतर समाज के नैतिक मानों की ओर से उस सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा जा सकता है। उस का परिणाम तत्काल से अधिक दृष्टिगत के मूल में जाता है। दूसरे शब्दों में फनाया है उस का कोई सम्बन्ध नहीं रहता। अंतिम रूप से ओर हो चम्यों में वह उपस्थित कि मनुष्य का जब सब कुछ हार रहता है तब प्रेम में परमात्मा के इशारे माने की छोड़ देने का नाम सत्याग्रह है। प्रेम में छोड़ना, माने गई जीवन को बिखार रहना और परम जीवन के प्रति आहुति हो रहना।

## प्रत्यक्ष

यह दो बरों कामना या काम भावना की वह प्रकृति है, जो सामाज्य और नृपत्य में रुकती नहीं है, उन का समाहार या पार खोजती है। इस तरह वह एक-एक को नहीं बेटी मानो सब को लेना चाहती है। इस में काम की भावना की भावा प्रियाएँ एक प्रेम की सी बन कर रह जाती हैं। साम्य प्रेम की इस एकता में शाप का हरण हो जाता है और प्रकाश का वरण होता है। इस को मैं कामोन्मयन नहीं कहता हूँ। यह भावा धार्मिक विज्ञान-व्यवसाय की है। लेकिन यह उन्मयन नहीं है उस का जो मूल में हस्त है। काम प्रकृति में से निकलता है, प्रेम धारमता में से उदय पाता है। काम को प्रकृत प्रकृति करने से ही प्रेम में प्रेम नहीं प्राप्त होता। कारण, प्रकृति से ही वे मिलते हैं।

## व्यभिचार

एक का प्रेम में वर्यन व्यभिचार माना जाता है। लेकिन एक का एक में वर्यन न कभी सम्भव हुआ है, न होया। यह मूलतः गलत है। इसलिये यदि एक एक में सीमित है, तो पति-पत्नी सम्बन्ध के द्वारा ही सीमित है। किन्तु स्वयं भारतीय समाज में इस पति-पत्नी सम्बन्ध को छोड़ कर अन्य अर्थस्य सम्बन्ध विद्यमान हैं। उन में यह माना कि वीर सम्बन्ध बखित रहता है, लेकिन क्या यह भी माना जा सकता है कि उन सम्बन्धों में वरस्वर स्नेह और ममता का प्रवाह निषिद्ध है। धर्मा व्यभिचार का प्रकृत स्वरूप सर्व सपयोगी मात्र है उस पर अधिक बोल बोलने से मर्यादा की सीरीएँ हटनी पड़ती बर्ये बालती हैं कि स्वयं मर्यादाएँ अत-विस्तृत हो जाती हैं। नहीं तो सोचिये कृष्ण को कैसे समझ में सीधिया ?

प्रमद हृदय का मित्र शत्रु ने किया। सामाजिक बुद्धि से छेड़िए, धार्मिक बुद्धि से ही उन के जोलह हजार आठ रागियों के साथ एक साथ वर्यित सम्भोग को साथ किस प्रकार स्वीकार करेंगे ?

उत्तर सीलह हजार आठ की संख्या पर तो ध्यान का ध्यान नहीं पटना है ? मैं मैं ध्यानने हजार की संख्या भी मुनी है। एक समय हजार क्या एक से घागे हो की भी भाग में सम्भवता नहीं है। भाग की यही सब से बड़ी सीमा और सीमा है। सीलह या ध्यानने हजार की भावा का मतलब यही हो सकता है कि हम्य बोपी नहीं है। नहीं तो रागियों की संख्या इकाई से उठ कर इकाई या धार्मिक से धार्मिक सीकड़े से घागे नहीं जा सकती थी। धपर

हजारों तक गई और फिर भी मानो कल्पना असुप्त रह गई तो उस का प्राप्य कृष्ण में योग की बगल योग का ऐश्वर्य देखने का ही रहा हो सकता है।

यह एक साथ सब के थे

मागध में है कि नारद इस बिस्मय का उत्तर पाने के लिए उन हजारों में से एक-एक पत्नी के पास गए। कैसे कृष्ण सब को एक साथ उपसम्पन्न होते और सुप्त रहते हैं यह प्रश्न हा ही सकता है। नारद भी जिस के वहां पहुंचते हैं, वहीं कृष्ण को उपस्थित पाते हैं। ऐसे घन्टा में मानो उन्होंने ने उत्तर पा लिया। यह उत्तर यही हो सकता है कि कृष्ण एक-एक के नहीं सब के थे और उन सब के लिए भी कृष्ण एक व्यक्ति नहीं मानो प्राप्य पुरुष है। संस्था और कल्पना की प्रतिध्वनि द्वारा मानो हम अपने बीच की रक्षाओं को पार कर उस धन्यता में पहुंच जाना चाहते हैं वही संयम इसलिए अभावश्यक है कि ध्यान वह व्याप्त है। व्यक्ति वहां धकेला नहीं रहता कि दूसरे की अकल में हो वह सब हो जाता है कि कोई अकल उसे नहीं रहती।

काम ओपधि, रोग नहीं

मैं मानता हू कि काम अकेलेपन की ओने की ओपधि के रूप में प्राता है और रोग वह नहीं, बल्कि एक का एकाकीपन है जिस को कभी स्वयं प्राप्य भी मान लिया जाता है। यह भयंकर मूल कारण होनी चाहिए।

हिंसा-अहिंसा

प्रश्न इतिहास इस बात का जाती है कि अहिंसा हिंसा के अन्धकार में अमोक्ष की तरह अमकी तो अकल, पर अमकी कुछ और के लिए और उस का सम्यक् मानव-मन में स्थिर न रह सका। ऐसी अवस्था में क्या अहिंसा और प्रेम का प्राप्य का सपना पूरा हो सकेगा और संसार वर्तमान की भीषण सम्भावनाओं से मुक्ति बच सकेगा ?

• उत्तर सपना पूरा कभी न होगा। लेकिन सपना संकेत अकल देता रहेगा। अपना कह कर जब उस संकेत को भी हम टालते हैं, तब संकट को ही निमग्न देखें हैं।

अहिंसा का अभाव हिंसा का समर्थन नहीं

हिंसा-अहिंसा किसी निश्चित रूप और कृष्ण के नाम नहीं है। यदि हम

मानव की बलि और उस के विकास को हिंसा से बहिष्ता की हिंसा में न मानें तो इसी समय सब कुछ स्वयं धीरे-धीरे हो जाता है। सम्पूर्ण बहिष्ता का व्यवहार बस्यना एक में यदि स्पष्ट नहीं हो जाता है तो इस का अर्थ हिंसा का सम्बंध नहीं बना लेना चाहिए। अनुपपन्न में से प्रयुक्त घटते रहने के लिए सदा सेव्य रहती नहीं आती। इस में से प्रयुक्त को सम्बंध नहीं मिला जाता है। बसिक प्रयुक्त से निर्वाह उत्तरी हा मानवता का लक्षण नहीं नहीं आती है।

इतिहास में हिंसा का व्यवहार मिलेगा। लेकिन धीरे-धीरे यह धीरे-धीरे धीरे के लिए भी बड़ा तो उस प्रयुक्ति को इतिहास फिर शुरू नहीं करता है। उसे प्रयुक्ति के रूप में मानता रहा इसी में इतिहास के लिए सामान्यता और प्रभाव के लक्ष्य मिल जाते हैं। व्यवहार को प्रयुक्ति का प्रभाव ही हम मान सकते हैं। प्रभाव नियम नहीं हो सकता। प्रभाव भरता है, नियम यह है।

### युद्धों के पीछे अनिवार्य मिसन

स्वयं युद्धों के रूप को ही भीतिए। उन का रूप विचार से विचारित और विचार के विचारित होता गया है। लेकिन सुस्पष्टता से देखें कि इस विचारिता और विचारिता के लक्ष्य कुछ लक्ष्य के नियम और नियमन की आवश्यकता स्पष्ट-इति में विकास पाते नहीं पाए हैं। युद्ध में ही सही, युद्धों के बीच ऐसे एक युद्धों के परिणाम में आए हैं। विश्व-व्यवस्था बीसी बीक प्रकट हुई है और यह लक्ष्य सब को सुनिश्चित हो गया है कि सब परस्पर व्यवस्थापित और समन्वय निर्माता हैं। सारे विश्व का धीरे-धीरे सब अपने को एकत्र और एकत्र प्रयुक्त कर रहा है। एक स्वयं पर लक्ष्य प्रकट होने पर बीक समस्त धीरे में से रक्त उस और दीर्घ प्रकट है। हिंसा के रक्त रक्त युद्धों के पीछे को इच्छा यह एकता और एकता पतित और सम्मान होती नहीं आ रही है उसे हम सहसा देखा-मान देना कर देते हैं। हिंसा कटती और कटती है, सब बीकती है। बहिष्ता समस्त मान से जो हमारी परस्परता को पतित व्याप्य और ओस बनाती आ रही है, तो सब का लक्ष्य हमारी बाह्य इच्छा सहसा से नहीं पाती। उस को प्रभाव की भाँति से देखा होता है। यह प्रभाव्य प्रभाव्य प्रभाव्य प्रभाव्य रूप से मानव-जीवन के इतिहास में से पतित होती नहीं आती है। ऐसा न होता तो इतिहास अभी का रूप हो गया होता।

### प्रयुक्त से बहिष्ता का पाठ

मानव प्रयुक्त प्रकट हुई है और उस की पहली पारंपर्यता प्रयुक्त के रूप

में हम ने पहचानी है। बाहिर है कि भीषण संहार-शक्ति उस में है और वह हिंसा का वास्तविक उपकरण है। लेकिन इस भाविष्कार से दुनिया सुती घाँसों के बगैरे है कि मम की तनिक विकृति किस तरह सारे संसार को व्यस्त कर सकती है। अर्थात् हिंसा का भाव किशोरा वातक और अहिंसा का विचार किशोरा भाव-व्यक्त है। जो धर्म-शास्त्र और साहित्य-दर्शन इतने कास से मानव-मन के निकट प्रत्यक्ष नहीं कर पाए थे जिसके कई जाने जाते इस प्रायुष के भाविष्कार ने वह पाठ विश्व-मानव के मर्म में एक ही साज उतार दिया है। अर्थात् इतिहास में से हिंसा नहीं निकलती है, बल्कि अहिंसा के विचार की अभिव्यक्ति निकलती है यह देखना कठिन नहीं होना चाहिए। बाह्य-दर्शन की हिंसा जैसे अन्तर्दशन की अहिंसा की पाठ के रूप में प्रस्तुत करने को ही बनी हो।

## हिंसा का असीम बड़ा है

बुद्ध ईसा गान्धी जैसे इतिहास में ज्योति की भाँति चमक कर लुप्त हुए जान पड़ते हैं। पर ज्योति उन घबराती पुष्पों की काया के साथ नहीं ही गई होती तो उन के नाम साथ सेप बने कैसे रह जाते? वह ज्योति मानवता के हृदयों में अपनी किरणों छोड़े बिना अस्त हो गई होती तो स्मृति किस सहारे उस ज्योतिर्मयता को संजो सकती? अतीत और अतीत मान कर इतिहास में से उन की वर्तमानता को मिटाया नहीं जा सकता है। यह कि मनुष्य अपनी हिंसा की बोरता से सदाशु और मयभीत है उस की अहिंसा की चेतना को ही दरसाता है। हिंसा का गौरव कमजोर पड़ा जा रहा है। उस पर बल्कि असीम इतना बढ़ गया है कि हिंसा पर उतरने वाली सत्ता और शक्ति को विश्व-मन के साथ अपनी कठिमेत और सफाई देनी होती है। जैसे यह प्रतीत हो कि वह पुनः है इस से सफाई देना मुश्किल ही बरती है। इस को मानव-चेतना में अहिंसा के भाव की व्याप्ति से अतिरिक्त दूसरा क्या कहेंगे।

प्रश्न विज्ञान ने मानव-मनों को फाड़ा और सुओं का सुजन किया, साथ ही ही वह बात साथ के उपर्युक्त कथन से उत्पत्ती पड़ जाती है कि विज्ञान के उपकरणों ने विश्व-मानव में प्रेम और अहिंसा की अनुभूति की बूझ एवं प्रयत्न किया है। इस विरोध का क्या कारण है?

उत्तर विज्ञान बुद्धि की वह तटस्थ प्रक्रिया है, जो सागर से बूँद की तरह चमकती है। धर्म और पुण्यकरण उस की पड़ति है। इस में एक को दूसरे से भिन्न पहचाना जाता है। विज्ञान इस तरह सदा भेद-विज्ञान है। इसलिए विज्ञान स्वयं अमेद से वास्ता नहीं रखता है। जितना जो अमरकार विज्ञान दिखाता है

पृथक्करण द्वारा पाए गए मर्म को फिर जीटा कर जीवन के समिष्ट उपयोग में उतारने के द्वारा ही विज्ञा पाता है। अर्थात् विज्ञान विस्लेषण है जीवन की आवश्यकता उस में से संश्लेषण प्राप्त होती है।

## जीवन संश्लेषण है

विज्ञान के उपकरण धीरे धीरे बने-बैठे आविष्कृत होते जाते गए, वे पहले वास्तविक वृत्ति के ह्रास पड़े। यह भी कहा जा सकता है कि वास्तव के वेग और दबाव में से वृद्धि की प्रेरणा संकेत हुई और नया-नया आविष्कार करती जाती गई। 'विश्वविद्यालय की सड़क काट इन्वेंशन' वाली आवश्यकता जीवन सम्बन्धी थी और बुद्धि विस्लेषण से प्राप्त तथ्यों को संश्लेषण जीवन की परिस्थितियों से मिलता गया। विज्ञान युद्ध की आवश्यकता के दबाव के नीचे बैठता रहा और पीछे जा कर ही रचनात्मक और विधायक कार्यों में धाया। बुराई में से प्रफ़्तर हम भलाई फ़सित होते देखते हैं पर वह भलाई बुराई को भसा नहीं बना देती। फिर भी उस भले फ़स को भपना कर हम बुराई के कूटन भी हो लेते हैं। विज्ञान को अपने-आप में भसा या बुरा ठहराने का कुछ धर्म नहीं है। इसा को मोरा का काता क्या कहा जाए? लेकिन एक को दूसरे से भिन्न समझने की बिधि सभी सही काम देनी जब साथ ही अभिन्नता की भूमि और भेदा प्राप्त बनेगी? यह भूमि जीवन की ही भूमिका है और उस भेदा से मानव-जन कभी खाली नहीं हो पाता है। यही जीवन का सनातन धर्म है। भेदा निक संहार में से भी जो जीवन का निर्माण निकाल लेता और हिंसा में से अहिंसा की ओर गति प्राप्त लेता है वह जीवन-धर्म मानव धर्म एक धर्म के लिए भी खोता नहीं है। और मानव उन्नी की जीकती में अपने सब उत्पादों के बावजूद मानवता में उठता और बढ़ता आया है। मनुष्य की ओर से जो धर्म हुआ है उस के प्रति कोई समर्पण या समर्थ का भाव यहां नहीं देखना चाहिए, केवल मानवी-तर ऐतिहासिक विकास-निमग को ही पहचान लेना चाहिए।

## प्रजातन्त्र, मानसबाध, साम्यवाद

### प्रजातन्त्र

प्रश्न मानव की, धर्म एवं लग्न की वर्तमान परिस्थिति में क्या प्रजातन्त्र को ही प्राप सर्वोत्तम एवं सर्वसफल लग्न नहीं मानने और क्या उन्नी में मान मानव को सर्वनाश से बचाने की योग्यता नहीं पाते?

उत्तर प्रजातन्त्र के भीतर का यह भाव सही और स्थायी है कि प्रजा

से घसप घोर ऊपर बैठने वाला राजा नहीं होना चाहिए। पर वह स्थिति उत्तरोत्तर प्राप्य करती है, प्राप्य है नहीं।

लोकशासनिक व्यवस्था में अन्धकार इतनी है कि मूल भावसे भुलकर खड़ा है। लेकिन तन्त्र चिन्तक मोट कम आए और अन्धकार की प्रशस्तिगत यह हो कि भीतर ही-भीतर राजकीय और सासकीय मानस बनने तो केवल प्रजातन्त्र नाम होने से उस को बढ़िया नहीं ठहराया जा सकता। तन्त्र के रूप में अधिक सम्भव है कि प्रजातन्त्र चेतना सुपष्टि और सक्षम न हो उस में कई तरह की चीजें रहें और कुछ मिखा कर एकाग्रता और एकचित्तता न आ पाए—तो उन्नति की होड़ में यह प्रजासत्ताक तंत्र ही उस राष्ट्र को घावे निकलने से रोकने वाला हो जाएगा। हमारे देखते-देखते कई लोकतंत्र सैनिक अभिनायक-तंत्र बन गए हैं जो इसी कारण। आज राष्ट्र को समझ और प्रमुख-सम्पूर्ण मान कर हम स्वयंस्वतंत्र उन्नति करना चाहते हैं तो तंत्र का प्रजासत्ताक रूप अक्षम सिद्ध होना। केन्द्रित और एक्ज्यूट रूप असम निकलेगा।

राज की उन्नति स्वयंस्वतंत्र है। हर राष्ट्र अपनी उन्नति चाहता है। सब की प्रार्थना समानु रूप है। सब की कोसिख है कि निर्मात बड़े आजाद की चक्रवर्त मटे। सब अपनी प्रमाण और सद्योय प्रमाण होना चाहते हैं। सब में मंडियों को जाने और पकड़ने की होड़ है। सब की प्रत्यक्ष मुद्रा है और सब की व्यापार-नीति स्वार्थहित की दृष्टि पर घूमती है। इस प्रवृत्ति और आचरणका के असीम राज-सत्ता को एक बड़े व्यापार-तंत्र के रूप में उठना होता है। यदि मानव-सम्पत्ता का रक्ष नहीं रहा तो प्रजातंत्र का कोई अधिक्य नहीं है। यह प्रजाती घात में रहे, घायब मृदु पर भी रहे लेकिन वास्तविकता में उसे मुठ-साबा जाएगा। वर्तमान सम्पत्ता में बूझरी गति नहीं है।

मानव को सर्वनाश से बचाने की योग्यता मानवादी प्रजातंत्र में नहीं हो सकती। इतना ही नहीं, बल्कि उन्हीं तंत्र से विनाश की निर्ममण भिन्न करता है, यदि अनिश्चितता और अश्वता उस का लक्षण बना रहे।

## अहिंसा-धर्मी प्रजातन्त्र से ही आशा

विनाश की प्रजातन्त्र रोक लकवा जो अहिंसा को अपनी निश्चित नीति मानेगा। तन्त्ररूप अपनी प्रार्थ-रचना बनाएगा परमात्म-निर्भरता से उत्पन्न मान-स्वरूप भुगत होगा और अन्तरराष्ट्रीय क्षेत्र में वैयर्थ निश्चयता का संरक्षण कर घावे जाएगा।

हम देखें कि यह प्रजातन्त्र राष्ट्र राज्य से भी अधिक जगत के समस्त

स्वयं मानव-राज्य के राज्य का नमूना देखा कर जाता है। शासन का रूप वहाँ धनुशासन है। वह केन्द्रित कर्म एवं व्यापार-राज्य नहीं है। जन-विश्वास के आधार पर स्थित सर्वोच्च नीति-राज्य है। राज्य मानो वहाँ केवल प्राप्त करण है, सञ्चालन नहीं है। जोस रूप उस का बीरे बीरे कम होता जाता है। व्याप्त महत्त्व उस का बढ़ता जाता है। यहाँ तक कि शासन मुक्त समाज का रूप उस से कमया प्रकट हो जाता है।

प्रजातन्त्र इस विद्या में विकास पा सके तक बिनाश ही न बचेया बल्कि स्वयं मानवता को परिष्कार प्राप्त होता। धन्यवा समझा बड़ेवी शठा संज्ञा ही दूरेवी धीर विस्वास फिर उत्पन्न-वर्धित के आधार को बूढ़ेया। धानुनिक स्थिति यही दिवा रही है। हिंसा धीर प्रजातन्त्र दोनों साथ चलते हैं तो झूठ जाता है। धीर झूठ चल नहीं सकता। इसलिये एकदम निर्दिष्ट है कि अहिंसा का सुभी धाँधों धपनाने की हिम्मत से धीर उत्तर धावरण से ही प्रजातन्त्र धाँधी का राज हो सकता है। नहीं तो नहीं।

प्रश्न : क्या धाय की राय में वर्तमान परिस्थितियों में कोई राष्ट्र स्वयंस्मिक राष्ट्र-नीति को त्याग कर और तत्कालीन अहिंसप्रणय नीति एवं निःसस्त्रीकरण को धपना कर धपना अस्तित्व बचाए रख सकता है ? अकेला बूढ़ा बिस्ती के घने में धपटी बाँधने बनेया, तो मृत्यु के मुख में ही बाएया।

उत्तर : धपने को ही नहीं, धाय सब का भी ऐसा ही राष्ट्र बचा सकेया। लेकिन राष्ट्र को धपने पुरेपन में बँसा होना होया। सिर्फ राजनीतिक धाघाबाध में से बह धोपना नहीं धा सकती। उस को धपना धर्ष-राज नीचे से उठी प्रकार बढना धीर बनाना होया। धाय के धर्ष-बाध में राष्ट्र परस्पर ऐसे धनुबढ है कि सब धुँधिये तो धिरव-मुढ में तटस्थ तक कोई नहीं रह सकता।

एक नहीं तो धाय की कल्पना में सब बूहे मिस कर बिस्ती को बकर धेर कर सफ़े मानून होते हैं। लेकिन सब कभी नहीं मिसने धयर मिसने धीर बिस्ती को कभी काहू कर नाएये तो सभी अब सबमुख कोई एक अकेला बूढ़ा बिस्ती के घने में धपटी बाँधने बहने का साहस बिबाएया। धय से धी धयिक साहस संशानक होता है।

**साहस भी सफ़ायक होता है**

धय संशामक होता है यह धाय जानते हैं, मैं जानता हूँ। लेकिन बिस्वास धीर साहस उस से भी संशामक होते हैं, यह भी धाय-रूप को जानना बाहिय। धीमी एक धीर नग़्नी-सी होती है, धन कर धान होने वाला जपन बिनाधान





हो सकता है कि केन्द्रित राज-सम की जरूरत न रह जाए। उसी स्वप्न और धापा में मानव-समाज बढ़ता आ रहा है। इस का आशय यह है कि शासन को अधिकारिक अनुशासन का रूप लेना चाहिए। शासन बहु को उन्नत द्वारा केन्द्रित होना और सेवा और शास्त्रात्मक का पृष्ठ बल जरूरी पड़ता है, अनुशासन का अर्थ यह है कि शासन विकेंद्रित और व्यवस्थापक होता जाए और हम तरह व्यक्ति दरक से नीति-दरक होने की ओर चके। राज-नारम और राज-तंत्र के अन्धे हैं जो प्रशासनात्मक व्यक्ति के उपकरणों से कम और अनुशासनात्मक नीति के साधनों से अधिक चलेते हैं।

### महत्व तंत्र के रूप का नहीं

भाषा से वास्तविकता व्यक्त होने के साधकंती भी है। इसी कारण भाषा में किसी उन्नत को अच्छा-बुरा ठह्रा देने से काम कुछ ऊपर से आसान होता हो पर असल में कठिनाई कटती नहीं है। प्रजातन्त्र लोक-तन्त्र धर्मनायक-तन्त्र राज-तन्त्र आदि-आदि शब्द प्रचलित हैं। भारत अपने तन्त्र को पंचतन्त्र कहता है। इंग्लैंड के तन्त्र को कुछ विवरण के साथ राज-तन्त्र माना जाता है। मित्रिण चर्चा करती है कि वही राष्ट्रपति का स्वाग और अधिकार विटिष राज से मित्र है कि मित्रिण है? बहुत अंध में सन्द और विधि का ही केर है नहीं तो दोनों की ही स्थिति एक है।

राजनीति के साथ व्यवहार चलाने और वहाँ प्रभावशाली होने के लिए यह जरूरी नहीं है कि उस भाषा में ही रहा जाए और उस के पार और पीछे न देखा जाए। पञ्चकीय व्यक्ति राजवंश से भी आगे राज-संस्था के इच्छा बन सकता है। राजनीतिक संस्थाओं की सारता बहुत सीमित है असल में वह प्रयोजन परिमित है। उस से आगे उस में अचलित है नहीं। गांधी जी ने भाषी सदी तक एकछत्र भारत के राज-कारण को बताया और भाषी में राम राज्य स्रव रखा। तंत्र बनाया उसे संभारा और संभाला लेकिन राष्ट्र सम्पूर्ण सदा राम राज्य ही क्रिया। राम-राज्य से किसी उन्नत-विशेष का चित्र मन में नहीं बनता है। जैसे तन्त्र वहाँ कोई भी हो सकता है आवश्यक इतना भर है कि एक भी अपने को उस राज्य में बसित बीच और दुनी अनुभव न करे हर कोई अपनी बात कह सके और वह बात सीधी सीधे के बात तक पहुँच सके। तो वहाँ राजा प्रजा के बीच आत्मीयता का सम्बन्ध है उसी राज्य-व्यवस्था को वैदिक मानना चाहिए। कमिश्नर या कमिश्नर या मरीटल बनेरह नामों ने कुछ पत्र नहीं पढ़ा है। चुनाव की पद्धति से माना जाता है कि प्रजा ही राजा बनती है जो

घोर भयानक होता है। तीनों की साथ क्या करने पर धर्म कर अंध के भयानकपन से डरी रह जाए ? वह नहीं हो पाता और तीनों अंध को बता जातही है। बिस्वी के सामने जूहा तो भी है, भयानक धर्म-कांड की चोरता के सामने तो बीड़ी की मुक्त सतही भी नहीं है। धरे धनु के जमाने में एक की घोर अस्प की सम्भावनाओं से हम धमजान बने रहेंगे ? सबसे मुह मोड़ेंगे ? अब तक धामर यही होता आया है। 'बहुत' का आरोप किता है कथको कम समझा है। प्राइम्टीम के सूत्र के प्रांच धोस भी है और समष्टि को धनु में ला दिया है। वहां में है वह पिछ में भी है। यह सत्य धार्मिक से नीतिक हो गया है। उस धनु के जमाने में आप यह क्या कहने बैठे हैं कि एक राष्ट्र अपनी घोर से पहल नहीं कर सकता। पहल एक की घोर से ही होती है। फिर दूसरों को एक-एक कर उस पांव में आना जरूरी बनता जा सकता है।

### मानव-नीति और मानव प्रतिनिधि

आज कस और अमेरिका की दो छावनियां हैं। सिकर-सम्मेलन हुए हैं और हो रहे हैं। निःसंकीकरण की बर्षा निरन्तर है। शक्ति दोनों महादेश चाहते हैं। धनु-सत्तों का निष्प्रयोग चाहते हैं निश्चयन चाहते हैं। राष्ट्र नेता दोनों तरफ धक्के, धक्के और बहादुर हैं। लेकिन चलते एक-दूसरे की तरफ धर्म के साथ हैं। 'हम करते हैं, अगर तुम भी करो' 'हम बिना करें, उतना करो' 'तुम कर के दिखाओ तो फिर देखना हम क्या कर दिखाते हैं' इत्यादि। अगर यह धर्म के साथ मानवा सच्चा मानना नहीं है। क्यों के बहादुर लोग पूरे और खुले तौर पर नहीं मान पाते हैं ? इस धमकेपन का क्या कारण है ? कारण है कि वे राष्ट्र नेता भी हो तो क्या वह भी धर्म रखें ? धर्म किस के साथ रखें ? धर्म किस के खिलाफ रखें ? आज का हमारा अन्तरराष्ट्रीय क्षेत्र राष्ट्र-प्रतिनिधियों, राष्ट्र-नीतियों और कूटनीतियों का क्षेत्र है। मानव-नीति और मानव प्रतिनिधि किसी राष्ट्र में और उस के द्वारा अन्तरराष्ट्र में प्रमुखता पाएगा तो दूर बुराई दिसाई देना। पर धामर उस समय की प्रतीक्षा करनी चाहिए।

### शासन और अनुशासन

प्रश्न धार्मिक नियन्त्रण के समाज में नीति अथवा शासन संघ क्या धर्मिष्ठ नहीं है ? यदि है तो आप विभिन्न संघों में किसको अपना समर्थन प्रदान करते हैं ?

उत्तर समाज में प्रात्यानुशासन उत्तरीतर इज्जत वर्तमान और बहमान

हो सकता है कि केन्द्रित राज्य-तन्त्र को जल्दतर न रह जाए। उसी स्वप्न और धाया में मानव-समाज बढ़ता आ रहा है। इस का मान्य यह है कि शासन को अधिकारिक समुदाय का रूप लेते जाना चाहिए। शासन वह जो तन्त्र द्वारा केन्द्रित होता और सेवा और सन्तुष्टि का पृष्ठ बन करी पाता है। समुदाय का धर्म यह है कि शासन विकेंद्रित और व्यवस्थापक होता जाए और इस तरह व्यक्ति परक से नीति-परक होने की ओर चल। राज-कारण और राज-तंत्र में समझे ॥ जो प्रशासनात्मक व्यक्ति के उपकरणों से कम और समुदायनात्मक नीति के साधनों से अधिक चलते हैं।

### सहृदय तन्त्र के रूप का नहीं

मापा से वास्तविकता व्यक्त होने के साबितकरी भी है। इसी कारण मापा में किसी तन्त्र की अच्छा-बुरा ठहरा देने से काम कुछ अरसे शासन होता हो, पर घसत में कठिनाई कटती नहीं है। प्रजातन्त्र लोक-तन्त्र विविधनामक-तन्त्र राज-तंत्र धादि-धादि सन्त्र प्रचलित हैं। भारत अपने तन्त्र को गणतन्त्र कहता है। ईर्ष्या के तन्त्र की कुछ विश्लेषण के साथ राज-तन्त्र माना जाता है। लेकिन यहाँ यकी है कि यही समुदाय का स्वाम और अधिकार विविध राज से भिन्न है, कि भिन्न है? बहुत घेरे में सम्य और विधि का ही केर है, नहीं तो दोनों की ही स्थिति एक है।

राजनीति के साथ व्यवहार चलाने और वहाँ प्रभावशाली होने के लिए यह बहरी नहीं है कि उस मापा में ही रहा जाए और उस के पार और पीछे न देखा जाए। सरावकीय व्यक्ति राजनेता से भी माने राज-सम्यक व सम्यक बन सकता है। राजनीतिक सम्भावनी की संख्या बहुत सीमित है। इसमें में वह प्रयोजन पर्यवर्त है। उस से आगे उस में संश्लेषण है नहीं। गांधी की ने धात्री सदी तक एकचरण भारत के राज-कारण को जसाया और बायी में राम-राम सम्यक रका। संन बलाका, उसे संभारा और संभाला, लेकिन राज्य सम्मुख सदा राम-राम ही किया। राम-राम से किसी तन्त्र-विषय का विचार मन में नहीं चलता है। जैसे तन्त्र वहाँ कोई भी हो सकता है, व्यवस्थापक इतना भर है कि एक भी घरे की उस राज्य में कतिपय चीज और कुली समुदाय न करे हर कोई अपनी बात कह सके और वह बात सीधी सीध के काम तक पहुँच सके। तो वहाँ राजा प्रजा के बीच धारणीयता का सम्बन्ध है उसी राज्य-व्यवस्था की बेहतर मानता चाहिए। विचार या विमर्श या अधीनक करार नामों से कुछ अन्तर नहीं रहता है। चुनाव की पद्धति से माना जाता है कि प्रजा ही राजा बनती है जो

ठीक काम नहीं करता है, उसे कुछ धान बाव हम फिर बुनने से इनकार कर सकते हैं। इस तरह समझ आता है कि बति मुक्त होती है, ऊपर का रबाव छत पर नहीं धाता है। होम्सब में राज-कुम मीनूब है और धनुमन होता है कि बति बस से बंध होती है, बहुत स्थिर नहीं हो पाती धान की संस्था के कारण एक स्थिरता बनी रहती है। जिस को कम्युनिस्ट ठग्न कहते हैं, बुनाव नहीं भी है लेकिन दस घनेक नहीं हो पाते एक ही बना रहता है और जनमन सत प्रतिष्ठत धम से धावन में बुना जाता और बावबोर बाने रहता है। यहां शक्ति-बुना को निरा कर समिति राज्य की बखति बनी है फिर भी बस को धनिनापकबाव कहने तक की बूखों को सुविधा है। रूप से डिक्टेटर को स्थान नहीं दीखता, फिर भी डिक्टेटरसिध बलती तो दीखती है।

### सत्त्व और नीति-बस

सब ठीक है कि शक्ति यहां किसी भी पद्धति से बुनाव से या यदि से घसंध्य बनों के पास से, धमाद् जनता से उठ कर कुछ विमली के लोपों के पास पहुचती और यहां से किसी एक के पास जान भी जाती है, तो ऐसे बंड-शक्ति के संस्थान का निर्माण होता है। ऐसा राज्य-संघ संस्कृति का यग्न नहीं रहता। शक्ति की बयह यदि केवल यहां नीति केन्द्रित हो तो राज्य नैतिक और सांस्कृतिक बन जा सकता है। यों कहिए कि राज्य की नाम से नहीं काम से परब होती है। परब इस में है कि कितने घंसे तक वह बंड-बन से काम करता और फिर घंसे तक नीति-बन से बनता है। जहां नीति ही बन है, वह राज्य धन-निर्भर नहीं होया क्योंकि वह विश्वास-निर्भर हो सकेया। इस पद्धति का राज्य नैतिक और मनोष्कापी होता है पद्धती बिधि जाता शक्तिविष्ठ बनता और कानून के बंड से प्रघासन बनाने को बाध्य होता है। बांधी भी के पास यही कसीटी भी और इसी दिशा में वह समाज और राज्य को धरमना चाहते थे। यह धावन बन न रह कर सेवा का हो जाए, उस के धास-बास गई और घोरब के बिम्ब न रहे नम्रता और अधिकजनता के छुच दीर्घ तो मानता चाहिए कि राजब राज्य से हम राम राज्य पर धाए हैं। शक्ति प्रभाव और नीति प्रभाव राज्य की व्याख्या में जाने से धन्य सूत्र हाथ लग सकते हैं जो राज्य की विधि के सम्बन्ध में भी प्रकाश दें।

### आधुनिक सत्त्व रजोगुण प्रधान

साध जिध सम्पदा के प्रवीण विद्वान का राजनीतिक मानस बन रहा है

वहाँ सब ठग दंडाधिकार और हिंसा-वस को धपका कर खड़े हुए हैं। हिंसा को प्रियता कम क्यासे उन्हें उपयोग में लाया पड़ता है, धन्यतर इतना ही है। बुद्धि मात्र और बिदबास सब का एक है और बहु-स्थिति-परक है। सब अपहृ पाप देखेंगे कि राजनैतिक भ्रष्टि से प्रेरित व्यक्ति ऊपर पहुँचते हैं, सात्विक को पीछे और नीचे रहना पड़ता है। धर्म का राजा और राज-कारण रजोगुण प्रधान है। मांसी जी उसे सरवशुभ-प्रधान बनाना चाहते थे। विकास धन्यतर सभी दिशा में है और पूँजीवादी तन्त्र हो या साम्यवादी तन्त्र सब को क्रमशः उस दिशा में चले जाना है। भ्रष्टि जब उस सारोश पर होगी तब तन्त्रवाच उतना प्रमुख नहीं बीबेबा प्रमुखता स्वयं मनुष्य को निभती जाएगी।

## मृत्यु

प्रश्न मृत्यु पाप कितने मानेंगे ? मृत्यु के साथ भौतिक शरीर की समाप्ति तो प्रत्यक्ष बीसती ही है। क्या पुरुष धन्यतरय व्यक्तित्व आई और आत्मा भी इस मृत्यु के दा करने पर लट्ट और निःशक्त हो जाते हैं ?

उत्तर मृत्यु द्वारा मानो बहु सम्बद्धता का व्यापार असम्भव बन जाता है, जो सब तक उस धंध और धनिक के बीच था। सम्बन्ध की अनुमति नहीं रहती। उस की माँ भी नहीं रहती। जीवन इस सम्बद्धता का नाम है। मृत्यु सब सम्बन्ध भंग को कहते हैं।

## जन्म-मृत्यु, भ्रम, माया

जन्म और मृत्यु की कड़ी को सामने लाने करते हुए तो नित्यप्रति हम देखते ही हैं। मैं तो दायन एक ही बार मर जाऊँगा लेकिन चारों तरफ जन्म-मृत्यु के दुस्म पुन-पुन होते देखता हूँ। जन्म-मृत्यु की इस शृंखला से बाहिर जीव को छुटना तो है ही। क्या जीव मूलतः आत्मा नहीं है ? क्या कभी आत्मा मरती है या जन्म लेती है ? तो जीव को यदि धारमन्त्र पाना है तो इस जन्म मृत्यु के निरन्तर की बन्ध-बाध से पार होना हो होगा। यह जन्म-मरण का सैल समष्टि के तल पर चल रहा है जैसे कि सागर के तल पर सहरों जगतीं और सहरों में बूँदें उछलती-पिरती हैं। उस महासागर के भग्नत बस पर होती हुई इस बेसा की लल में मर सके तो जन्म-मृत्यु की सीला का रूप ही बन जाता है। ऐसा मानल होता है कि कुछ नहीं मरता है, कुछ नहीं जीता है। मरना-जीना जो मानल होता है सो स्वयं ही धपने में भ्रम है। 'मैं' माया है। माया का क्या जन्म और क्या उस का नाश ?

## मह की व्यापक साथकता

इस दृष्टि से मह का अर्थ अर्थ नहीं हो जाता है, केवल उस की व्यापक साथकता प्राप्त होती है। यदि ऐसा पुनर्जन्म नहीं है केवल यही एक जन्म मिला है तो पाप-पुण्य की क्या भिन्ना भेदा क्या और कुरा क्या 'अर्थ कुरा कुरा स्वैर' की नीति ही क्यों न लगे—इत्यादि प्रश्न नहीं उठते। 'एक' में से व्यक्तता और साथकता जब दोनों समाप्त होती हैं, तो कुरा का महत्व बह जाता है, वह लुप्त नहीं होता। इस तरह अनुताप-परिताप भयका उत्सर्ग-विसर्जन में वृत्ति और हेतु की ही बिनामता छाती है, उन में निरर्थकता नहीं पैदा होती। मैं मानता हूँ कि व्यक्ति यदि इस अनुभव से भरा हो कि उस का दुष्कर्म पुनर्जन्म के लिए बुरा तो सामर्थ्य उस से दुष्कर्म न लगे। भिन्नता और महत्ता की सीढ़ी ही अनुभव को तुच्छता और मोह की ओर से जाती है। विराट् का सम्बन्ध देने से मह की किन्ना प्रक्रिया में जब कि अन्तर नहीं बहता तब प्राप्त्य व्यवस्था विधाय हो जाता है।

प्रश्न मह की सत्ता व्यापक स्वीकार करती है और समष्टि में मह के विसर्जन की व्यापक मुक्त्य मानते हैं। मह के अस्तित्व में जाने से से कर विसर्जन तक जो अन्तर-बिच्छेद मह को बँटने पड़ते हैं वे क्या भिन्नता रूप से एक ही जन्म में समाप्त हो जाते हैं? और क्या मनु के समस्त जाने पर हर मह समष्टि में विसर्जित हो ही जाता है?

उत्तर : नहीं मह सदा-सदा के लिए अर्थ-रूप है। इसलिए उस की मृत्तु नहीं है। अपूर्णता और अतृप्ति सदा जीव के लिए है। जीवन-मृत्यु का व्यवहार केवल पूर्णता में है। व्यवहार न जीता है न मरता है। वह अस्तित्व-नास्ति से ऊपर है। इसलिए जो अपूर्ण है वह मर इसलिए नहीं खड़ा है कि उसे प्रकार-प्रकार से और फिर फिर जी कर पूरे होने के प्रयास में लगे ही रहना है।

## अतृप्ति का अर्थ

भारते समय व्यक्ति में मिश्रणी भावसाध होती है विचली अतृप्ति। इन अतृप्तिओं का क्या होना? क्या वे व्यक्ति की हैं कि उस की समाप्ति के साथ समाप्त हो जाएँ? नहीं वे अतृप्ति का मानो अपने में से नई-नई मृष्टि करती हैं। मैं मानता हूँ कि प्रादयी में से पृष्ठ कर जो आकाशात्, आसक्ति का और अनुभूति का चारों ओर अपने लम्बे फूटती हुई फैलती है वेहास के साथ भी आने के पीछी आगती रह जाती है। साहित्य क्यों पीता है जब कि बर्षा भर बुझा होता है? ऐतिहासिक ग्रन्थ अनेक मृष्टियाँ क्यों हैं, जबकि इतिहास हर नए भाव साथ के

साथ स्वयं मरता जा रहा हूँ। इसलिये कि मरता हूँ वही मरता हूँ। जम के द्वारा जो चरितार्थ हुआ रहता है, वह नहीं मरता हूँ। वह समर बना रहता हूँ। यह प्रतीति निरुपेक्षी को कठिन नहीं होती चाहिए कि मर कर छात्रों केवल अपना शरीर कुछ का नहीं रह जाता हूँ। बल्कि मृत्यु द्वारा वह सब का शरीर प्रदान का हो जाता हूँ। यही प्रतीति है या पढ़ेंगे हुए पुरुषों को मृत्यु के समय हिलने नहीं देती है, बल्कि समाधिस्थ और प्रान्धशक्त बनाए रखती है।



## दो प्रतिनिधि कहानियाँ

जिनका अर्थ स्वयं बीमोक्ष जी ने किया है

### पाजेब

बाजार में एक नई तरह की पाजेब बनी है। वीरों में बढ़ कर वे बड़ी अच्छी मानूम होती हैं। उन की कड़ियाँ बापस में लटक के साथ बड़ी खूबी है कि पाजेब का मानो मित्र का आकार कुछ नहीं है, जिस पांश में पड़े उसी के अनुकूल हो जाती है।

पास-पड़ोस में तो सब नन्हीं-बड़ी के वीरों में बाप बड़ी पाजेब देख लीये। एक ने पहनी कि फिर दूसरी ने भी पहनी। देखा-देखी में इस तरह उन का न पहनना मुश्किल हो गया है।

हमारी मुन्नी ने भी कहा कि बाबू जी, हम पाजेब पहनेंगे। सोलिय मला कठिनाई से बार बार की कम और पाजेब पहनेगी।

मैं ने पूछा कि कौसी पाजेब ?

बोली कि नही कौसी कमजोर पहनती है, जैसी सीसा पहनती है।

मैं ने कहा कि अच्छा-अच्छा।

बोली कि मैं तो पाज ही पंजा लूँगी।

मैं ने कहा कि अच्छा भाई, पाज सही।

सब बस तो सैर मुन्नी किसी काम में बहुत गई। लेकिन जब दोपहर भाई मुन्नी की दुआ सत्र यह मुन्नी सहज भावने वाली न थी।

दुआ ने मुन्नी को मिठाई खिलाई और गौर में बिठा और कहा कि अच्छा, तेरी पाजेब घर के इतवार को लकर लेती भाऊनी।

( इतवार को दुआ भाई और पाजेब ने भाई। मुन्नी उन्हें पहन कर लुपों के मारे बहाँ-दे-बहाँ घूमकटी फिरी। सकल के पास गई और बोली—“देख सक-मित्र मेरी पाजेब।” बोली को भी अपनी पाजेब दिखाई। सब ने पाजेब पहनी देख कर उसे प्यार किया और तारीफ की। सबमुच यह चाँदी की सजेय दो-

तीन सड़ियाँ-सी टक्कियों के चारों ओर सिलपट कर, चुपचाप बिछी हुई ऐसी सुबक लगती थीं कि बहुत ही धीरे-धीरे की सुखी का ठिकाना न था।)

धीरे हमारे महाशय धाधुतोप को मुन्नी के बड़े सार्थ थे, वैसे तो मुन्नी को सभी-सभी देख कर बड़े खुश हुए। वह हाथ पकड़ कर अपनी बड़िया मुन्नी को पावेब-सहित दिखाने के लिए घास-पास से गए। मुन्नी की पावेब का गौरव उन्हें अपना भी मामूम होता था। वह खुब हँसे और तासी पीटी लेकिन बोड़ी देर बाद वह ठमकने लगे कि मुन्नी को पावेब ही खो हम भी बाइसिकल लेंगे।

बुधा ने कहा कि धक्का बैठो धन के जन्म दिन को तुम्हें भी बाइसिकल दिलाएँगे।

धाधुतोप बाबू ने कहा कि हम तो धनी लेंगे।

बुधा ने कहा—“छी-छी तु कोई बड़की है? जब तो सड़कियाँ किया करती है। और सड़कियाँ रोती है। कहीं बाबू साइब सोप रोते हैं।”

धाधुतोप बाबू ने कहा कि तो हम बाइसिकल लेकर लेंगे जन्म-दिन वाले रोज।

बुधा ने कहा कि हाँ यह बात पक्की रही जन्म-दिन पर तुम को बाइसिकल मिलेगी।

इस तरह वह रविवार का दिन हँसी-झुंझी पूरा हुआ। धाम होने पर बच्चों की बुधा बनी गई। पावेब का शीक बड़ी-भर का था। वह फिर उतार कर रख रखा ही नहीं, जिस से कहीं को न जाएँ। पावेब वह बापोंक और सुबक काम की भी ओर आँखें काम लग गए थे।

धीमती ने हम से कहा कि क्यों भी लगती तो धक्की है मैं भी एक बनवा लूँ।

मैं ने कहा कि क्यों न बनवाओ। तुम कीन बार जरत की नहीं हो।

लेर यह हुआ। पर मैं रात को अपनी मेज पर जा कि धीमती ने घा कर पूछा कि तुम ने पावेब तो नहीं देखी?

मैं ने धारचर्च से कहा कि क्या मतलब?

बोली कि देखो यहाँ मेज-मेज पर तो नहीं है। एक तो रस में की है, पर दूसरे वेर की बिलती नहीं है। जाने कहाँ गई?

मैं ने कहा कि जाएगी कहाँ? यहीं कहीं देख लो। मिल जाएगी।

उन्होंने मेरी मेज के कागज उड़ाने-बलने शुरू किए और घास-पास की दिशाएँ टटोल खाने का भी मनभूवा दिखाया।

मैं ने कहा कि यह क्या कर रही हो? यहाँ वह कहाँ से घाटी?

जबान में वह मुँह ही से पूछने लगी तो फिर कहाँ है ?

मैं ने कहा—“तुम ने ही तो रखी होगी। कहाँ रखी थी ?”

वसमाने लगी कि उन्होंने बोपहर के बाव कोई तो बच छुटार कर दोनों को पच्छी तरह सम्मान कर नीचे बासे बगस में रख दिया था। अब देखा तो एक है, दूसरी गायब है।

मैं ने कहा कि तो बस कर वह इस कमरे में कैसे था जाएगी ? सूझ हो गई होगी। एक रखी होगी एक वहीं-कहीं फर्श पर छूट गई होगी। देखो भिन्न जाएगी। कहीं जा नहीं सकती।

हम पर भीमटी कह-सुन करने लगी कि तुम तो ऐसे ही हो। बुरा सापरबाह हो बोप छुटे मुँह से हो। कह तो रही हूँ कि मैं ने दोनों सम्मान कर रखी थीं।

मैं ने कहा कि सम्मान कर रखी थीं तो फिर वहाँ-वहाँ क्यों देख रही हो ? वहाँ रखी थीं वहीं से से लो न। वहाँ नहीं है तो फिर किसी ने निकाल ली होगी।

भीमटी बोली कि मेरा भी यही क्याल हो रहा है। हो न हो बन्दी नीकर ने निकाली है। मैं ने रखी तब वह वहीं मौजूद भी था।

मैं ने कहा—“तो उस से पूछा ?”

बोली कि वह तो साफ झुठकार करता है।

मैं ने कहा—“तो फिर ?”

भीमटी ओर से बोली कि तो फिर क्या बसाऊँ ? तुम्हें तो किसी बात की फिकर है नहीं। डाँट कर कहते क्यों नहीं हो उस बन्दी को बुला कर ? बकर पावेब उसी ने ली है ?

मैं ने कहा कि अच्छा तो उसे क्या कहना होगा ? यह कहूँ कि सा भाई पावेब है है।

भीमटी झुल्ला कर बोली कि हो बुका बस कुछ तुम से। तुम्हीं ने तो उस नीकर की बात को बाह्योर बना रखा है। डाँट न फटकार मोहर ऐसे धिर न बड़ेगा तो क्या होगा।

मैं ने पूछा कि तो तुम्हारा क्या क्याल है ?

बोली कि वह तो रही हूँ कि किसी ने उसे बगस में से निकाला ही है। पीर सोलह मैं पन्द्रह माने यह बन्दी है।

मैं ने कहा कि मैं ने बन्दी से पूछा था। उसने नहीं ली मामूम होती।

इस पर भीमटी ने कहा कि तुम नीकरों को नहीं जानते। वे बड़े छिटे होते

है। जरूर बंती ही खोर है। नहीं तो क्या करिगते तेने घाते।

मैं ने कहा कि तुम ने धाधुतोप से भी पूछा ?

बोली—“पूछा ना। वह तो बुर दूक खीर बरस के नीचे बुठ-बुठ कर खोज लवाने में मेरी मदद करता रहा है। वह नहीं ने सकता।

मैं ने कहा—“उसे पतंग का बड़ा शौक है।”

बोली कि तुम तो उसे बठाते-बरजते कुछ हो नहीं। जमर होती ना रही है। वह बों ही रह पाएगा। तुम्हीं हो उसे पतंग की चहू देने वाले।

मैं ने कहा कि कौ कहीं पाजेब ही पड़ी मिल गई हो तो ?

बोली कि नहीं नहीं। मिलती तो वह बता न देता ?

खीर, बातों-बातों में मानस हुआ कि उस शाम धाधुतोप पतंग खीर एक खोर का पिन्ना बना लाया है।

मीमरी ने कहा कि यह तुम्हीं हो मिलने पतंग की उसे इजाजत दी। सब सारे दिन पतंग-पतंग। यह नहीं कि कभी उसे बिठा कर सबक की भी कोई बात पुछो। मैं सोचती हूँ कि एक दिन ठोड़-ठाड़ बूँ उस की सब खोर खीर पतंग। हाँ ठी, सारे बरस रही हूँ।

मैं ने कहा कि खीर, छोड़ो। कम सचेरे पूछ-छाछ करेंगे।

सचेरे बुला कर मैं ने जम्बीरता से उस से पूछा कि क्यों बैठ, एक पाजेब रही मिल रही है तुम ने तो नहीं देखी ?

वह बुन हो धाया। जैसे वापस हो। उसने तिर हिलाया कि उसने नहीं ली। घर मुँह नहीं खोला।

मैं ने कहा कि देखो बैठे, की हो तो कोई बात नहीं सब कह देना चाहिए।

उसका मुँह खीर भी फूज धाया। खीर वह बुन-बुन बैठ रहा।

मेरे मन में उस समय छह-छह के लिझाम था। मैं ने स्मिर किया कि मगराच के प्रति करवा हो होनी चाहिए। रोप का जबिकार रही है। प्रेम से ही मगराच-बुक्ति की बीता ना सकता है। धातक से उसे बचाना ठीक नहीं है। बालक का स्वभाव कोमल होता है खीर सदा ही उस से स्नेह से व्यवहार करना चाहिए, दरबारि।

मैं ने कहा कि बैठ धाधुतोप तुम मगराचरी नहीं। सब कहने में मगराच नहीं चाहिए। ली ही तो बुन कर कह दो, बैठ। हम कोई सब कहने की उमा बोदे हो ने सकते हैं। बसिक सब बीतने घर तो हलाम निजा करता है।

धाधुतोप सब बुनता हुआ बैठ रहा। उसका मुँह सूखा ना। वह सामने मेरी धाँबी में नहीं देख रहा ना। रह-रह कर उसके भाँवे घर बत बड़ते थे।

“क्यों बेटे, तुम ने जी तो नहीं ?”

उसने सिर हिला कर कोम से अस्थिर धीरे से धावाज में कहा कि— “मैं ने नहीं जी नहीं जी नहीं जी।” यह कह कर वह रोने को हो धाया, पर रोया नहीं। आँखों में आँसू रोक लिए उसने।

उस वक्त मुझे प्रतीत हुआ उन्नता शोष का सङ्घर्ष है।

मैं ने कहा—“देखो बेटा, डरो नहीं घबरा जाओ। बूढ़ो, सायर कहीं पड़ी हुई वह पाजेब मिल जाए। मिल जाएगी तो हम तुम्हीं हमाय देंगे।”

वह जता गया धीरे दूसरे कमरे में जा कर पहुँचे तो एक कोने में खड़ा हो गया। कुछ देर चुपचाप खड़े रह कर वह फिर यहाँ-वहाँ पाजेब की उन्नाह में खन गया।

धीमती आकर बोली—“आपू से तुम ने पूछ लिया ? क्या जवाब है ?”

मैं ने कहा कि सन्देश तो मुझे होता है। नीकर का काम तो यह है नहीं।

धीमती ने कहा कि नहीं जी आपू मला क्यों मेरा ?

मैं कुछ बोला नहीं। मेरा मन जाने कैसे यन्वीर प्रेम के साथ ही आधुतोप के प्रति समझ रहा था। मुझे ऐसा मानूम होता था कि ठीक इस समय आधुतोप को हमें अपनी सहाय्यता से संबंध नहीं करना चाहिए, बल्कि कुछ प्रतिरिक्त स्नेह इस समय वास्तव की निम्नता चाहिए। मुझे यह एक भारी दुर्घटना आधुतोप होती थी। मानूम होता था कि धन्य आधुतोप ने जोरी की है तो उसका इतना शोष नहीं है बल्कि यह हमारे ऊपर बड़ी भारी इस्लाम है। बच्चे में जोरी की आदत भयावह हो सकती है। लेकिन बच्चे के लिए बँदी साजारी उपस्थित हो भारी, यह भीर भी कहीं भयावह है। यह हमारी आलोचना है। हम उस जोरी से बरी नहीं हो सकते।

मैं ने बुना कर कहा—“घबरा सुनो। देखो मेरी तरफ देखो वह बठाघी कि पाजेब तुम ने धुन्नु को दी है न ?”

वह कुछ देर कुछ नहीं बोला। उस के चेहरे पर रंग धाया धीरे गया। मैं एक-एक छाया टाकना चाहता था।

मैं ने आश्वासन देते हुए कहा कि कोई बात नहीं। हाँ हाँ, बोलो डरो नहीं। ठीक बठाघी बेटे। कैसा हमारा सच्चा बेटा है।

मानो बड़ी कठिनार्थ के बाद उस ने अपना सिर हिलाया।

मैं ने बहुत खुश हो कर कहा कि जी है न धुन्नु को ?

उसने सिर हिला दिया।

अत्यन्त सात्वता के स्वर में स्नेहपूर्वक मैं ने कहा कि मुँह से बोली। धुन्नु

को बी है ?

उस ने कहा—“हाँ-यों।”

मैं ने धारण्य हर्ष के साथ दोनों बाहों में ले कर उठ खड़ा किया। बगानि ऐसे ही बीस दिया करते हैं धाँसे लड़के। धाम्य हमाग्य गगन केदा है। मैं के साथ से उठे पीर में लिए-लिए मैं उस की माँ की मग्य मग्य। दाम्यलुईक बोला कि देखो हमारे बेटे में लज कबूल किया है। पादक उठ ३ धूम्य की है है।

मुन कर माँ उस की कप हा धाई। उम्मी में उठ मुन। कप्य कप्य। है। धीर उसकी बर्तया बी।

धाम्यलुईक की मुम्कग्य दावा मग्य कि मग्य की उठ मे ३/३ मे ३/३ नहीं हुई बी।

उस के बाद समय न था का मैं ने उठि उठि उठि मे मुन ३/३ मे ३/३ के पास है न ? बाघो बाघ ना उठि हा उठ मे ?

धाम्यलुईक मेरी धीर केबाग्य हुआ बीदा उठ मग्य। है मे मुन ३/३ मे ३/३, से बाघो।

उसने कहा मैं मंहु नहीं जाना।

मैं ने धारण्य किया हा वह बीला कि धूम्य के मग्य मही हुई मे मंहु मंहु मे मे।

मैं ने कहा कि धी निर का उठ मे ही हीनी मंहु उठ मे मंहु मंहु मे मे। मुन कर वह मुन हो गया। मेर बार-बार मंहु मे मंहु मंहु मे मे ३/३ मे ३/३ धूम्य के पास न हुई तो वह देना कही मे ?

मग्य मैं हार कर मैं ने कहा कि वह कही ना हीनी। बाघा मुन मे मंहु मे उठि बी ?

“पही निमी बी।”

“धीर फिर नीचे जा कर वह तुमने धूम्य को दिया है?”

“हाँ।”

“फिर उधरी ने कहा कि इसे बेचेंगे ?”

“हाँ।”

“बहु बेचने को कहा ? कहा, मिठाई माएँगे।”

“नहीं परंतु माएँगे।”

“मग्य परंतु की कहा ?”

“हाँ।”

“तो उठी के पास होनी चाहिए न ? या परंतु वाले के पास होनी। बाघो

बैठा उस से मे आओ । कहना हमारे बापू भी तुम्हें इनाम देंगे ।”

वह जाना नहीं चाहता था । उसने फिर कहा कि छुम्नू के पास नहीं हुई तो कहाँ से देना ?

मुझे उस की जिब बुरी भासूम हुई । मैं ने कहा कि तो कहीं तुम ने उसे गाढ़ किया है ? क्या किया है ? बोलते क्यों नहीं ?

वह मेरी धीर बेसता रहा धीर कुछ नहीं बोला ।

मैं ने कहा— ‘कुछ कहते क्यों नहीं ?’

वह गुम-गुम रहा धीर नहीं बोला ।

मैं ने डपट कर कहा कि आओ बहाँ हो वहीं से पाजेब से कर आओ ।

जब वह अपनी जगह से नहीं उठा धीर नहीं गया तब मैं ने उसे काम पकड़ कर उठाया । कहा कि सुनते हो आओ पाजेब से कर आओ नहीं तो घर में तुम्हारा काम नहीं है ।

उस तरह उठाया जा कर वह उठ गया धीर कमरे से बाहर निकल गया । निकल कर बरामदे के एक कोने में क्ठा मुँह बना कर खड़ा रह गया ।

मुझे बड़ा शोम हो रहा था । यह लड़का सब बोल कर जब किस बात से घबरा रहा है वह मैं कुछ समझ न सका । मैं ने बाहर जा कर जरा धीरे से कहा कि आओ भाई, जा कर छुम्नू से कहते क्यों नहीं हो ?

पहले तो उस ने कोई जबाब नहीं दिया फिर बार-बार कहता रहा कि छुम्नू के पास नहीं हुई तो वह कहाँ से देना ?

मैं ने कहा कि जितने में उस ने बेची होगी वह नाम दे देंगे । समझे न आओ तुम कहो तो ।

छुम्नू की माँ ने कहा है कि उस का लड़का ऐसा काम नहीं कर सकता । उसने पाजेब नहीं देखी ।

जिस पर घासुतोप की माँ ने कहा कि नहीं तुम्हारा छुम्नू झूठ बोलता है । क्यों रे घासुतोप तँ मे बी भी न ?

घासुतोप ने धीरे से कहा कि हाँ बी बी ।

हूठरी धीरे से छुम्नू बढ़ कर आया धीरे हाथ फटकार कर बोला कि मुझे नहीं बी । क्यों रे मुझे कब बी बी ?

घासुतोप ने जिब बाँध कर कहा कि बी तो बी । कह दो नहीं बी बी ?

मठीजा यह हुआ कि छुम्नू की माँ ने छुम्नू को खूब पीटा धीर वह तुम भी रोने लगी । कहती रही “हाथ रे, जब हज जोर हो गए । यह कुलश्रिणी बीमार जाने कब मिरेगी ?

बात पूरा तक फैल जाती। पड़ोस की स्त्रियों में पवन पड़ने लगी थी। बीमती ने घर सोट कर कहा कि छुम्पू धीर उस की माँ बोमों एक-से हैं। मैं ने कहा कि तुम ने तेजा-तेजी क्यों कर डाली? ऐसे कोई बात नमा कभी सुनमती है!

बोमों कि हाँ मैं तेज बोलती हूँ। अब बाबो मा तुम्हीं उन के पास से पाजेब निकाल कर लाओ। तब जानूँ वह पाजेब निकलवाओ। मैं ने कहा कि पाजेब से बड़ कर घाबि है। धीर घाबानि से तो पाजेब मिल नहीं आएगी।

बीमती बुझबुझाती हुई नाराज हो कर मेरे सामने से जाती गई। बोमों देर बाद छुम्पू की माँ हवाई घर आई। बीमती उन्हें लाई थी। अब उन के बीच पसी नहीं थी। उन्होंने मेरे सामने आ कर कहा कि छुम्पू तो पाजेब के लिए इन्कार करता है। वह कितने की थी मैं उस के बाम भर सकती हूँ। मैं ने कहा—“यह आप क्या कहती हैं। बच्चे बच्चे हैं। आप ने छुम्पू से छहलियत से पूछा भी?”

उन्होंने उसी समय छुम्पू को बुला कर मेरे सामने कर दिया। कहा कि क्यों रे, बठा क्यों नहीं बैठा जो तँ ने पाजेब देखी हो?

छुम्पू ने जोर से तिर हिला कर इनकार किया धीर बताया कि पाजेब घाघुघोप के हाथ में मैं ने देखी थी धीर वह पतंग वाले को दे पाया है। मैं ने पूब देखी थी वह चांदी की थी।

“तुम्हें ठीक मामूम है?”

“हां वह मुझ से कह रहा था कि तू भी मत। पतंग लाएँ।”

“पाजेब कितनी बड़ी थी? बताया तो।”

छुम्पू ने उसका आकार बताया जो ठीक ही था।

मैं ने उस की माँ की तरफ देख कर कहा कि देखिए न पहले यही कहता था कि मैं ने पाजेब देखी तक नहीं। अब कहता है कि देखी है।

माँ ने मेरे सामने छुम्पू की खींच कर तभी बम्म-बम्म पीटना शुरू कर दिया। कहा कि क्यों रे, भुट बोलता है? तेरी बमझी न उघेड़ी तो मैं नहीं।

मैं ने बीच-बचाव कर के छुम्पू को बचाया। वह बाहीब की भाँति पिटता रहा था। रोमा बिस्फुल नहीं था धीर एक बोने में उन्हें घाघुघोप को जान दिसा माँ से वह देव रहा था।

धीर मैं ने सब को छुटी दी। कहा कि बाबो बैठा छुम्पू बैठा। उस की माँ से कहा कि आप उसे मारियेगा नहीं। पाजेब कोई ऐसी बड़ी चीज नहीं है।



छुन्नु पता गया। तब उस की माँ ने पूछा कि बाप उसे कसूरवार समझते हो?

मैं ने कहा कि मासूम तो होता है कि उसे कुछ पता है और यह मामले में शामिल है।

इस पर छुन्नु की माँ ने पास बंठी हुई मेरी पत्नी से कहा—“बसो बहुत भी मैं तुम्हें अपना सारा घर दिखाए देती हूँ। एक-एक चीज देख लो। होबी पाजेब तो आएगी कहाँ?”

मैं ने कहा ‘छोड़िए भी। बे-बास की बात बकाने से क्या फायदा।’

तो ज्यों-त्यों मैं ने उन्हें दिखाता दिया। नहीं तो वह छुन्नु की पीट-पीट हास-बैहास कर डालने का प्रयत्न ही उठाए से रही थीं। कुलच्छनी भाब उसी परती में नहीं गाड़ दिया तो मेरा धाम नहीं।

खैर, बिच-बिच भोगि बसेड़ा टामा। मैं इस भ्रष्ट में बरतार भी समय पर नहीं जा सका। बाते बतल थीमती को कह पया कि देखो घाघुतोप को घम काना मत। प्यार से सारी बातें पूछना। बयकान से बच्चे बिपड़ बाते हैं और हाब कुछ नहीं घाता। समझी न?

राम को बरतार से लौटा तो भीमती ने सूचना दी कि घाघुतोप ने सब कुछ बतला दिया है। प्यारह घाने वैसे मैं वह पाजेब फर्तय बाने को दे घाबा है। वैसे उस ने बोड़े-बोड़े कर के बेमे को कहे हैं। पांच घाने को बिप ने छुन्नु के पास है। इस तरह रती रती बात उस ने कह बी है।

कहते लयी कि मैं ने बड़े प्यार से पूछ-पूछ कर यह सब सब के पेट में से निकाला है। बो-लींग घन्टे मैं मगज मारती रही। हाय राम बच्चे का भी क्या भी होता है।

मैं मुन कर लुछ हुआ। मैं ने कहा कि बसो मन्ना है, सब पांच घाने मेव कर पाजेब ममा लमे। लेकिन यह परतंग बाला भी कितना बरदाय है, बच्चों के हाब से ऐसी चीजें मता है। उसे पुमिछ मैं ने देना चाहिए। छबनछा कहीं का।

फिर मैं ने पूछा कि घाघुतोप कहाँ है?

उन्होंने बताया कि बाहर ही कहीं बैल-खाल रहा होया।

मैं ने कहा कि बंसी जा कर उसे बुला लो लामो।

बंसी ममा और उस ने धा कर कहा कि वह अभी बाते हैं।

“क्या कर रहा है?”

‘छुन्नु के साथ मिल्नी-टण्डा खेल रहे हैं।’

थोड़ी बेर मैं घाघुतोप माया। तब मैं ने उसे मोद में लेकर प्यार किया।

घाते-घाते उस का चेहरा जवाब हो गया था धीरे नीचे मैं लगे पर भी वह बिंदीय प्रसन्न नहीं मानूम हुआ ।

उस की याँ ने खुल हो कर कहा कि हमारे धातुतोप ने सब बातें अपने आप पूरी पूरी बता दी हैं । हमारा धातुतोप बड़ा सच्चा सक्रम है ।

धातुतोप मेरी गोद में टिका रहा । लेकिन अपनी बकाई गुन कर भी उस को कुछ हर्ष नहीं हुआ प्रतीत होवा था ।

मैं ने कहा कि बाप्री कसो । यह क्या बात है । क्यों हठरत तुम को पाँच घाने लो मिले हैं न ? हम से पाँच घाने मांग लेते तो हम क्या न देते ? सुना अब से ऐसा मत करना बेटे !

कमरे में से जा कर मैं ने उस से छिर पूछ-ताछ की "क्यों बेटा, पतंग बाते ने पाँच घाने तुम्हें दिए न ?"

"हां ।"

"धीरे धुल्लू के पास हैं ?

"हां ।"

"बाप्री लो उस के पास होंकि न ?"

"नहीं ।"

"कब कर दिए ?"

"नहीं ।"

"नहीं कब किए ?"

"हां ।"

"कब किए कि नहीं कब किए ?"

उस धीरे से प्रत्य करके पर वह मेरी ओर देखता रहा । अब मैं उत्तर नहीं दिया ।

"बताओ कब कर दिए कि बाप्री हैं ?"

जवाब में उस ने एक बार "हां" कहा धीरे दूसरी बार "नहीं" कहा ।

मैं ने कहा कि लो यह क्यों नहीं करते कि तुम्हें नहीं मानूम है ?

"हां ।"

"बेटा मानूम है न ?"

"हां ।"

"पतंग बाते से बैसे धुल्लू ने लिए हैं न ?"

"हां ।"

"तुम ने क्यों नहीं लिए ?"

बह चुप ।

“पाँचों हक़भियां थीं, या कुछभी और ऐसे भी थे ?”

बह चुप ।

“बतलाते क्यों नहीं हो ?

चुप ।

“हक़भियां कितनी थीं बोलो ?”

“बो ।

“बाकी ऐसे थे ?

हां ।

“कुछभी नहीं थी ?”

“हां ।”

“कुछभी थी ?”

“हां ।

मुझे स्पष्ट घाने लगा । डपट कर कहा कि सब क्यों नहीं बोलते भी ? सब

बताओ कितनी हक़भियां थीं और कितना क्या था ?

बह मुन-मुन खड़ा रहा कुछ नहीं बोला ।

“बोलते क्यों नहीं ?

बह नहीं बोला ।

‘सुनते हो । बोलो’ ‘नहीं तो ।’

आसुतोष डर गया और कुछ नहीं बोला ।

“सुनते नहीं मैं क्या कह रहा हूँ ?

इस बार भी बह नहीं बोला तो मैं ने पकड़ कर उस के कान खींच लिए ।

बह बिना आसु लाए मुन-मुन खड़ा रहा ।

‘अब भी नहीं बोलोगे ?’

बह डर के मारे पीला हो गया । लेकिन बोल नहीं सका । मैं ने जोर से

मुसामा ‘बंसी यहाँ आओ इस की से जा कर कोठरी में बन्द कर दो ।’

बंसी मोकर उसे उठा कर ले गया और कोठरी में मूँद दिया ।

उस भिन्नट बाद मैं ने फिर उसे पास बुलवाया । उस का मूँद चुना हुआ

था । बिना कुछ बोल उस के मोँठ हिल रहे थे । कोठरी में बन्द हो कर भी

बह रोया नहीं ।

मैं ने कहा ‘क्यों रे, अब तो प्रकल थाई ?’

बह मुनता हुआ मुम-मुम खड़ा रहा ।

“धम्मा भयं बाला कीन-सा है ? दाईं तरफ का वह बीराहे बाला ?”

उस ने कुछ मोठों में ही बड़-बड़ा दिया जिसे मैं कुछ न समझ सका ।

बह बीराहे बाला ? बोली ”

हां ।

देखो अपने बाबा के साथ जाने जाओ । बता देना कि कीन सा है । फिर उसे स्वयं भुगत लेंगे । समझते हो न ?

मह कह कर मैं ने अपने दाईं को बुलवाया । सब बात समझ कर कहा ‘देखो पांच घाने के पीछे से जाओ । वहाँ मुम दूर रहना । धासुतोप पीछे से जा कर उसे देना और अपनी पाजैब मायेमा । धम्मा लो वह पाजैब मोटा हो देना । नहीं तो उसे डांटना और कहना कि तुम्हें पुलिस के सुपुर्न कर दूँगा । बच्चों से बात छपता है ? समझे ? गरमी की बकल नहीं है ।”

“और धासुतोप सब जाओ अपने बाबा के साथ जाओ ।”

बह अपनी कपड़ पर खड़ा बा । मुन कर भी टस-से-मस होता दिखाई नहीं दिया ।

“नहीं जाओगे ?”

उस ने तिर हिसा दिया कि नहीं जाऊँगा ।

मैं ने तब उसे समझा कर कहा कि रीसा गर की बीज है, राम लये हैं । मसा पांच घाने में स्पर्श का माल किसी के हाथ को दीये ? जाओ बाबा के संन जाओ । तुम्हें कुछ नहीं कहना होगा । हाँ पीछे से देना और अपनी बीज बापिस माँब लेना । दे दे दे दे, नहीं दे नहीं दे । तुम्हारा इस से सचेकार नहीं । सब है न बेटे । सब जाओ ।

पर वह जाने को तैयार ही नहीं बीजा । मुझे लड़के की पुस्तासी पर बड़ा बुरा मामूम हुआ । “बोली इस में बात क्या है । इस में पुरिचल कहाँ है ? समझ कर बात कर रहे हैं तो समझता ही नहीं, नुनता ही नहीं ।”

मैं ने कहा कि क्यों दे नहीं जायगा ?

उस ने फिर तिर हिसा दिया कि नहीं जाऊँगा ।

मैं ने प्रकाश, अपने छोटे दाईं को बुलाया । कहा “प्रकाश इसे पकड़ कर ले जाओ ।”

प्रकाश ने उसे पकड़ा और धासुतोप अपने हाथ-पीछे से उस का प्रतिहार करने लगा । वह साथ जाना नहीं चाहता बा ।

मैं ने अपने ऊपर बहुत बल कर के फिर धासुतोप को पुनःकार कर कहा कि

बापों भाई। बरो नहीं। अपनी बीज घर में धाएगी। इतनी-सी बात समझते नहीं। प्रकाश इसे गोदी में ले बापों और जो बीज मंगे उसे बाजार से बिना देता। बापों भाई धाधुतोप।

पर उस का मुंह फूला हुआ था। जैसे-तैसे बहुत समझने पर वह प्रकाश के साथ चला। ऐसे चला मानो पैर उठाना उसे मारी हो रहा हो। घाठ बरस का वह सड़का होने आया फिर भी बेसो न कि किसी भी बात की उस में समझ नहीं है। मुझे जो गुस्सा आया तो क्या बतभाऊं। लेकिन वह कर के कि तुम्हें से बच्चे सम्भलने की जगह बिपड़ते हैं मैं अपनी को बचाता चला गया। और वह गया तो मैं ने बीज की साँव ली।

लेकिन बेसता क्या है कि कुछ देर में प्रकाश भीट आया है।

मैं ने पूछा— 'क्यों ?'

बोला कि धाधुतोप भाव आया है।

मैं ने कहा कि अब वह कहाँ है ?

'वह कड़ा सड़ा है, घर में नहीं आता।'

'बापों पकड़ कर तो बापों।'

वह पकड़ा हुआ आया। मैं ने कहा 'क्यों रे तु घरारत से बाज नहीं आया ?' बोला 'आया कि नहीं ?'

वह नहीं बोला तो मैं ने कस कर उसे बीज बाँटे दिये। बप्पड़ जगते ही वह एक कम बीजा पर फौरन चुप हो गया। वह जैसे ही मेरे सामने खड़ा रहा।

मैं ने उसे देख कर माँ गुस्से से कहा कि मे बापों इसे मेरे सामने से। जा कर कोठरी में बन्द कर दो। दुष्ट !

इस बार वह प्राय-एक घंटे बन्द रहा। मुझे क्या आया कि मैं ठीक नहीं कर रहा हूँ, लेकिन जैसे कि दूसरा दोस्ता न बीजता था। मार-पीट कर मन को ठिकाना देने की आदत पड़ गई थी, और कुछ अभ्यास न था।

और मैं ने इस बीज प्रकाश को कहा कि तुम लोगों पर्वत बापों के पास बापों। माझूम करना कि किस में पायेब ली है। होधियारी से माझूम करना। माझूम होने पर सस्ती करना। मुरम्मत की जरूरत नहीं। समझे ?

प्रकाश क्या पर लोटने पर बताया कि किसी के पास पायेब नहीं है।

मन कर मैं भ्रम आया बोला कि तुम से कुछ काम नहीं हो सता। बरा-सी बात नहीं हुई तुम से क्या उम्मीद रखी जाए ?

वह अपनी सफाई देने लगा। मैं ने कहा 'बस तुम जाओ।'

प्रकाश मेरा बहुत सिहाव करता था। वह मुंह बाज कर जाता था। कोठरी

कुलबाने पर घाघुतोप को फटा पर सोता पाया। उस के बेहरे पर घब भी घाघु नहीं थे। सब पूछो तो मुझे उस समय बरतक पर कदमा हुई। लेकिन घाघु भी मैं एक ही साथ जाने गया-गया बिरोधी भाव छल्ले हैं।

मैं ने उस बताया। वह हकबकाकर उठा। मैं ने कहा "कहो क्या हुआ है?"

बोड़ी देर तक वह समझ ही नहीं। फिर धायव पिछला सिपसिना पाव धाया। छट उस के बेहरे पर वे ही बिप सकड़ धीर प्रतिरोध के भाव दिखाई देने लगे।

मैं ने कहा कि या तो 'राजी राजी' बने जाओ नहीं तो इस कोठरी में फिर बन्द किए देते हैं।

घाघुतोप पर इस का विशेष प्रभाव पड़ा हो ऐसा नहीं मानूँ हुआ।

और उसे पकड़ कर लामा धीर समझने लगा। मैं ने निकाल कर उस एक दरवा दिया और कहा 'बैठा इसे धरत बाने को देना धीर पायेब भाव सेना। कोई बबराने की बात नहीं। तुम तो समझदार लड़के हो।'

उस ने कहा कि वो पायेब उस के पास न हुई तो वह कहाँ से देना?

"इस का क्या मतलब, तुम ने कहा न कि पाँच बाने में पायेब दी है? न हो तुम्हें को भी साथ ले लेना। समझे?"

वह चुप हो गया। बाहिर समझने पर जाने को तैयार हुआ। मैं ने प्रेम पूर्वक उसे प्रकाश के साथ जाने को कहा। उस का मुँह भारी देख कर डाटने वाला ही था कि इतने में सामने उस की बुधा दिखाई दी।

बुधा ने घाघुतोप के सिर पर हाथ रख कर पूछा कि कहाँ जा रहे हो मैं तो तुम्हारे लिए कैसे धीर दिखाई साईं हूँ।

घाघुतोप का बेहरा बठा ही रहा। मैं ने बुधा के कहा कि उसे रोको मत जाने दो।

घाघुतोप बचने को उद्यत था। वह चलने में आनापानी दिखाने लगा।

बुधा ने पूछा "क्या बात है?"

मैं ने कहा "कोई बात नहीं जाने दो न उसे।"

पर घाघुतोप सबलने पर आ गया था। मैं ने डाँटकर कहा 'प्रकाश इसे ले क्यों नहीं जाते हो?'

बुधा ने कहा कि बात क्या है? क्या बात है?

मैं ने बुधारा "धुँबड़ी भी साथ जा। बीच से नीटने न पाने।" तो मेरे धावे पर दोनों घाघुतोप को जबरबस्ती बठा कर सामने से ले गए।

सुभा ने कहा—“मैं तो उसे सदा रहे ही ?”

मैं ने कहा कि कुछ नहीं बरा यों ही

फिर मैं उस के साथ दूधर-उदर की बातें से बैठ। राजनीति राष्ट्र की ही नहीं होती, मुझसे मैं भी राजनीति होती है। यह मार स्त्रियों पर टिकता है। कहा गया हुआ, क्या होना चाहिए इसासि जर्नलिस्टों को ले कर रंग फँसाती है। इसी प्रकार की कुछ बातें हुई, फिर छोटा-सा बक्सा खरक कर बोली—“इस में वह काव्य है जो तुम से माने ले। और यहाँ—”

यह कह कर उन्होंने अपनी बास्केट की जेब में हाथ डाल कर पाजैब निकाल कर सामने की, जैसे सामने बिच्छू हो। मैं मध्यमोत्त भाव से कह दूँ कि वह क्या ?

बोली कि उस रोज़ दूध से यह एक पाजैब घेरे साथ ही बनी गई थी।

—जैनैश्वर्य की कहानियाँ—भाग २ से

## आत्मवृत्ति

आज तीसरा रोज़ है। तीसरा नहीं बीता रोज़ है। वह इतबार की छुट्टी का दिन था। तबसे उठ और कमरे से बाहर की ओर झाँका तो देना, मुझसे के एक बकाल की छत पर काँब-काँब करत हुए कीर्तियों से भिरी एक लड़की पड़ी है। लड़ी-लड़ी बुला रही है—“कीर्तो भायो, कीर्तो भायो। कोई बहुत काफ़ी मा चुके हैं, पर और भी माते-माते हैं। वे छत की मुँडेर पर बैठ धवीपटा से पंख हिला-हिला कर बेहूब ओर मचा रहे हैं। फिर भी उस कीर्तियों की संस्था से लड़की का मन जैसे बरा नहीं है। बुला ही रही है—“कीर्तो भायो कीर्तो भायो।”

देखते-देखते छत की मुँडेर कीर्तियों से बिस्फुल कासी यह गई। उन में से कुछ धब उड़-उड़ कर लड़की की बीती से बा टकराने लगे। कीर्तियों के लूब मा धिरने पर लड़की माओ उन आसक्ति प्रतिधियों के प्रति माने बनी—

काया चुन-चुन लाहपो ।

गाने के साथ उस ने अपने हाथ की रोटियों में से तोड़-तोड़ कर मादे-मादे टुकड़े भी थारों ओर फेंकने शुरू किए। माती जाती थी—

काया चुन-चुन लाहपो ।

यह बल बाधुम होती थी और यमायास उस की बेहू धिरक कर नाच-सी

माती थी। कीए चुन चुन ला रहे थे घोर बह या रही थी—

कापा चुन-चुन आइयो ।

भाये वह क्या माती है। कीमों की काँब-काँब घोर उन के पंखों की फड़ फड़ाहट के मारे साक मुगई न दिया। कीए सपक-सपक कर मानो टूटने से पहले उस के हावों से टुकड़ा लीन ले रहे थे। वे लड़की के चारों घोर ऐसे ला रहे थे मानो प्रेम से उस को ही जाने को उद्यत हों। घोर लड़की कभी हसर कभी उधर कुक कर घूमती हुई ऐसे लीन भाव से ला रही थी कि जाने क्या मिल रहा हो।

रोटी समाप्त होने लगी। कीए भी यह समझ गए। जब अन्तिम टुकड़ा हाथ में रह गया सब वह गाती हुई उस टुकड़े को हाथ में फहराती हुई घोर से बो-लीन बनकर लगा उठी। फिर उस ने वह टुकड़ा ऊपर घासमान की घोर फेंका— 'कीमो खाओ कीमो खाओ।' घोर बहुत-से कीए एक ही साथ जड़ कर उसे लपकने लपटे। उस समय उन्हें देखती हुई लड़की मानो घासमान में बीसती हुई-सी घासमान में जा उठी—

दो नना मत आइयो, मत आइयो

पीठ मिलन की घास ।

रोटियाँ खत्म हो गईं। कीए जड़ बने। लड़की एक-एक कर उन को उड़ कर जाते हुए देखने लगी। पल भर में छत कोरी हो गई। सब वह घासमान के नीचे धकेली अपनी छत पर लड़ी थी। घास-पास बहुत-से मकानों की बहुत-सी छतें थीं। उन पर कोई होगा कोई न होगा। पर लड़की दूर अपने कीमों को उड़ते जाते हुए देखती रह गई। माना समाप्त हो गया था। चुप घभी फूटी ही थी। घासमान यहूत भीला था। लड़की के झोंठ खुले थे दृष्टि फिर थी। न जाने घुमी-सी वह क्या देखती रह गई थी।

बोड़ी देर बाद उस ने मानो आसकर अपने घासपास के बगए को भी देखा। इसी की राह में क्या मेरी घोर भी देखा? देखा भी हो पर घायब मैं उसे नहीं दीखा था। उस के देखने में सबकुछ कुछ दीखता ही था यह मैं कह नहीं सकता। पर, कुछ ही पल के अनन्तर वह मानो वर्तमान के प्रति वास्तविकता के प्रति चेतन हो गई। सब फिर बिना देर लगाए बट-बट उतरती हुई वह नीचे अपने घर में चली गई।

मैं अपनी धिड़की में लड़ा-खड़ा जाहने लगा कि मैं भी देखू कि कीए वहां कहां जड़ रहे हैं घोर न दियनी दूर चले गए हैं। क्या वे वहीं दीखत भी हैं? पर मुश्किल से मुझे दो-एक ही कीए दीखे। वे निरवक भाव से वहां बैठे थे या वहां जड़ रहे थे। मैं मुझे मूर्त घोर पिनीने मामूम हुए। उन की कासी देह घोर



कासी बॉच मग को बुरी लगी। मैं ने सोचा कि नहीं धरती देह मैं क्यों से नहीं मुचबाळगा। छि चुन चुन कर इन्हीं के साने के लिए क्या मेरी देह है ? मेरी देह और कीए ? छि ।

बाग पड़ता है लड़े-लड़े मुझे काफी समय चिड़की पर ही हो गया क्योंकि इस बार देखा कि डेर-कै-डेर कपड़े कंधे पर सारे मही लड़की फिर उठी छत पर था यह है। इस बार वह पाती नहीं है, वहां पड़ी एक छोट पर उन कपड़ों को पटक देती है और उन कपड़ों में से एक-एक को चुन कर फटक कर, नहीं छत पर फेंका देती है। छोटे-बड़े उन कपड़ों की विमली काफी रही होगी। वे उठाय बाते रहे फटके बाते रहे, फेंकाए बाते रहे, पर उन का धम्य धीम्र धावा न बाते। धातिर जब धम्य हो गए सब लड़की ने सिर पर धाए हुए बोली के पत्ते को पीछे किया। उस ने एक धंवाई ली फिर सिर को नीचे से हिसा कर धनबंने अपने बालों को छिटका लिया और बीचों बीच वहीं डोल कर उन बालों पर हाव डेरने लगी। कभी बालों की लट को सामने ला कर देखती फिर उठी को आपरबाही से पीछे फेंक देती। उस के बाल महरे काले से और लम्बे थे। मालूम नहीं उसे अपने बालों पर चुन बा या चुन बा। कुछ डेर वह धंभुनियां डेर-डेर कर अपने बालों को धम्य धम्य छिटकाती रही। फिर बसते बसते एकाएक उन सब बालों को इकट्ठा घुंटे कर फटक कर चुड़ा सा बांध पस्ता सिर पर बांध वह नीचे उतर गई।

इस के बाद मैं चिड़की पर नहीं ठहरा। घर में छोटी छापी धाई हुई है। इसी घर के दूसरे भाग में रहती है और गवाह न करके कालिख में पड़ती है। मैं ने कहा—“सुनो यहां बाघो।

उस ने हंस कर पूछा—“यहां कहाँ ?

चिड़की के पास आ कर मैं ने पूछा—“क्यों धी आलसी का मफान जानती हो ?

“आलसी ? क्यों वह कहाँ है ?”

“मैं क्या जानता हूँ कि कहाँ है। पर देखो वह घर तो उस का नहीं है ?”

उस ने कहा “मैं ने घर नहीं देखा। अगर उस ने कालिख भी छोड़ दिया है।”

“बसो घबरा है मैं ने कहा धीर उसे धीरे-धीरे टासा क्योंकि वह पूछने टाटने लगी थी कि क्या काम है आलसी को मैं क्या धीर करते और क्यों जानता हूँ। मच यह था कि मैं रहती घर उसे नहीं जानता था। एक बार अपने ही घर मैं इसी छापी की हवा धीर धांध पर एक गिराह एक को देखा था। गवाह

यदा या कि वह बाहूनी है, धीर मैं ने घनापास स्वीकार कर लिया था कि घण्टा वह बाहूनी होगी। उस के बाद भी सच्चाई यह है कि मुझे कुछ नहीं मालूम कि उस बाहूनी का क्या बन गया धीर क्या नहीं बना। पर किसी सच्चाई को बहोई के मुँह से सुन कर स्वीकार कर ले तो सस्ती क्या—तिस पर सच्चाई ऐसी कि नीरस। पर ज्यों-ज्यों मैं ने टाला।

बात-बात में मैं ने कहना भी चाहा कि ऐसी ही तुम बाहूनी को जानती हो ऐसी ही तुम उस के साथ पड़ती थी कि बात बात पर कह दिया—'मालूम नहीं'। लेकिन मैं ने कुछ कहा नहीं।

इस के बाद सोमवार हो गया मंगलवार हो गया धीर घाब कुछ भी हो कर धुका जा रहा है। बीया रोज है। हर रोज सबेरे सिक्की पर दीखता है कि कौए बाँध बाँध छीन-छपट कर रहे हैं और वह लकड़ी उन्हें रोटी के टुकड़ों को मिस्र कह रही है

क्या चुन-चुन घाहमो ।

मुझ को वहीं मालूम कि कौए को कुछ उस का खाएँ उसे कुछ भी उस का सोच है। कीर्तों को चुना रही है—“कीर्तों घाहो, कीर्तों घाहो” साम्रह वह रही है—“कीर्तों साहो कीर्तों साहो” वह धुन है कि कौए घा पए हैं धीर के घा रहे हैं। पर एक बात है। वह कहती है कि जो कीर्तों वह तन चुन चुन कर सब निबटा देना लेकिन ऐ मरे बाई कीर्तों इन दो नैनो का छोड़ देना। उन्हें वहीं मत खा लेना। क्या तुम नहीं जानते कि उन नैनो में एक घास बसी है जो पराए के बस है। वे नैना पीठ की बाट में हैं। ऐ कीर्तों वे मेरे नहीं हैं मेरे तन के नहीं हैं। वे पीठ की घास को बचाए रखने के लिए हैं। जो उन्हें छोड़ देना।”

घाब सबेरे भी मैं ने यह सब कुछ देखा। कीर्तों को रोटी लिमा कर वह उसी तरह भीखे चली गई। फिर छोटे-बड़े बहुत से कपड़े घो कर सारी। उसी भाँति उन्हें भटक कर फेंका दिया। वैसे ही बाल छितरा कर थोड़ी देर वह डोली। फिर सड़ना ही उन्हें जूँ में संभाल कर भीखे जाय गई।

बाहूनी को घर में एक बार देना था। पत्नी ने उसे पास छीर पर देण मैंने को कहा था धीर जब के जाने जाने पर पूछा था—“क्यों कभी है?”

मैं ने कहा था—“बहुत घनी मालूम होती है। मुग्गर भी है। पर क्यों?”

“मरने बिरजू के लिए बीसी गेही?”

बिरजू दूर के रिश्ते में मेरा घसीका होता है। इस नाम पर ० ए० में पहुँचा है।

मैं ने कहा—“भरे, बचनम्भ ! यह सच के सामने बचपा है।

पत्नी ने अचरज से कहा—“बचपा है। बाईस’बरस का तो हुमा।

‘बाईस छोड़ गयाबीस का भी हो जाए। देखा नहीं कैसे छठ से रहूँगा है। यह सड़की बेहो कैंटी बस सफेद साड़ी पहनती है। बिरजू उस के साथक क्यूँ है ? वो भी कह सकती हो कि वह बेचारी सड़की बिरजू के छाठ के साथक नहीं है।

बाप मेरी कुछ सही, कुछ ग़ल्प भी। पत्नी ने उसे कान पर भी न लिया। कुछ दिनों बाद मुझे मामूम हुआ कि पत्नी जी की कोयिलों से जाह्नवी के मां बाप से ( मां के द्वारा बाप से) काफी भावे तक बढ़ कर बर्तों कर ली गई हैं। घासी के पीछे पर बसा बेना होना, क्या बेना होना, एक-एक कर सभी बर्तों पेसमी तब होती का रही हैं।

इतने में सब किए-कराए बर पानी छिड़ गया। जब बास कूल किनारे पर सा पई थी, तभी हुआ गया कि हमारे बचनम्भ के पास एक पत्र आया। उस पत्र के कारण एकदम सब चीपट हो गया। इस रंग में जब हूँ जाने पर हमारी पत्नी जी का मन बहने तो फिर कर बुर-बुर-स होना बाग पक्ष, पर छिड़ वह सही पर बड़ी सुख मामूम होने लगी।

मैं तो मानो इन मामलों में धनावरक प्राची हूँ ही। कार्मो-काव मुझे कबर तक न हुई। जब हुई तो इस तरह

पत्नी जी एक दिन सामने आ बसकीं। बीबी—“यह तुम ने जाह्नवी के बारे में पहले से क्यों नहीं बतलाया ?”

मैं ने कहा—“जाह्नवी के बारे में मैं ने पहले से क्या नहीं बतलाया माई ?”

“वह कि वह कैंटी है ?”

मैं ने पूछा—“ऐसी कैंटी ?”

उन्होंने कहा—“बबो मत। जैसे तुम्हें कुछ नहीं मामूम।”

मैं ने कहा—“भरे, यह तो कोई हार्डकोर्ट का जज भी नहीं कह सकता कि मुझ कुछ भी नहीं मामूम। लेकिन बाहिर जाह्नवी के बारे में मुझे क्या-क्या मामूम है, वह तो मामूम हो।”

भीमटी जी ने मरुधिम धारचर्म से कहा—“बिरजू के पास छठ आया है, सो तुम ने कुछ नहीं सुना ? धात्रकल की मरुधिया बह कुछ न पूछो। यह तो पत्नी भला हुआ कि मामला खुल गया। नहीं तो ”

यरा माबला कहाँ कैसे सुना और भीतर से क्या कुछ रहस्य बाहर हो

पड़ा सो सब बिना जाने मैं क्या निवेदित करता ? मैं ने कहा—“कुछ बात साफ भी कहो।”

उन्होंने ने कहा—“वह लड़की घाघगाई में पड़ोयी थी। पड़ी-भिखी सब एक बात की होती है।”

मैं ने कहा—“सब की बात-बिरादरी एक हो जाए तो बड़ेका टन। लेकिन घसक बात भी तो बताओ।”

“घसक बात जाननी है तो जा कर पूछो उस की महतारी से। अभी समझिन बनने जली थी। वह तो मुझे पहले ही से बात में कामा मानूम होता था। पर देखो न कैंसी सीधी-भोली बातें करती थी। वह तो डेर क्या थी, सब हो ही चुका था। बस सदन-माहूर्त की बात थी। राम राम भीतर पेट में कैंसी कालिख रक्के है, मुझे पता न था। जलो घाघिर परमाना ने इज्जत बना ली। वह लड़की घर में घा-जाती तो पैरा मुँह धब दिखने लायक रहता।”

मेरी पत्नी का मुस कपों किन्न भाँति दिखाने लायक न रहता उस में क्या बिहृति भा रहती सो जन की बातों से सपक में न थापा। जन की बातों में रख कई भाँति का मिला लब्ध न मिला। कुछ देर के बाद जन बातों से मैं ने लब्ध पाने का पाल ही छोड़ दिया और गुपचार में पाव-मुस्य बर्म-सबर्म का बिरे बम मुनता रहा। पता लगने पर मानूम हुआ कि जन मोहन के पास खुद लड़की यानी बाहूकी का पत्र थापा था। पत्र मैं ने देखा। उस पत्र को देख कर मेरे मन में कल्पना हुई कि अगर वह मेरी लड़की होती तो ?—मुझे यह धनना सीमास्य मानूम नहीं हुआ कि बाहूकी मेरी लड़की नहीं है। उस पत्र की बात कई बार मन में उठी है और गुमहूती रह गई है। ऐसे सबब बिन्न का सना जान उड़ गया है और मैं घुस-माइ से हूँ जो घुस्य बातों और से डके हुए है उस की धार देखता रह गया हूँ।

पत्र कहा नहीं जा। सीधे-साधे बंय से उस में यह लिखा था कि “आन जब बिबाह के लिए पठा पहुँचें तो मुझे प्रस्तुत भी पार्ये। लेकिन मेरे बिन्न की हासज हम समय ठीक नहीं है और बिबाह किस बायिक अनुष्ठान की पावता मुम में नहीं है। एक अनुष्ठान घाप की बिबाह हास मिलनी चाहिए। वह जोवन-जगिनी भी हो। वह मैं हूँ या हो सकती हूँ इस में मुझे बहुत सन्देह है। फिर भी अगर घाप चाहें, घाप के माता-पिता चाहें, तो प्रस्तुत मैं दरबंद हूँ। बिबाह मे आन मुझे लेंगे और स्वीकार करेंगे तो मैं अपने को दे ही दूँगी घाप के घरनों की बुनि जाने से लवाइंगी। घाप की हुपा मानूँगी। इतना होइंगी। पर निवेदन है कि यदि घाप मुम पर अपनी मांग उठा लेंगे मुझे छाह देते तो

भी मैं कृतज्ञ होऊँगी। निर्धन आप के हाथ है। जो चाहें, करें।”  
 मुझे ब्रजनन्दन पर आश्चर्य आ कर भी आश्चर्य नहीं होता। उस ने मुझे से अकेले के साथ कह दिया कि मैं यह छापी नहीं करूँगा। लेकिन उस ने मुझे से अकेले में यह भी कहा कि चाचा भी मैं धीर विवाह करूँगा ही नहीं करूँगा तो उठी से करूँगा। उस पग को वह अपने से भ्रमहरा नहीं करता है धीर मैं देखता हूँ कि उस ब्रजनन्दन का ठठ-बाट आप ही कम होता जा रहा है। सारा रहने मया है धीर अपने प्रति सत्य ब्रह्मण्य भी नहीं सीखता है। पहले विवेका बनना चाहता था जब विनयावनत सीखता है धीर आश्चर्य से अधिक बात नहीं करता। एक बार प्रवक्षिनी में मिल गया। मैं तो देख कर हँस में रह गया। ब्रजनन्दन एकाएक पहचाना भी न जाता था। मैं ने कहा—“ब्रजनन्दन कहो क्या हास है?”  
 उस ने प्रणाम करके कहा— अन्ध है।  
 वह मेरे घर पर भी आया।

पत्नी ने उसे बहुत प्रेम किया और बहुत-बहुत बचावों की कि ऐसी लड़की से छापी होने से जलो भयवान् ने समय पर रसा कर बी। जाह्नवी नाम की लड़की की एक-एक छिपी बात विरह की चाँची को भास्य हो गई है। वे बातें—घोड़, कुछ न कुछ विरह रीति। मुँह से प्रवक्षान किसी की बुराई न कर्ता। लेकिन “  
 फिर कहा—“भई, सब वह के बिना काम कर तक हम जताएँ, पू ही बता। क्यों रे, अपनी चाँची को बुझाने में भी पू धारण नहीं देया? सुनता है कि नहीं?”

ब्रजनन्दन चुपचाप सुनता रहा।

पत्नी ने कहा—“धीर यह मुझे हो क्या गया है? अपने चाचा की बातें मुझे भी लग गई हैं क्या? न हँस के कपड़े न रीति की बातें। उन्हें तो अन्धे कपड़े-साँचे सोभते नहीं हैं। पू नवों ऐसा रहने लगा है रे?”  
 ब्रजनन्दन ने कहा—“कुछ नहीं चाँची! धीर कपड़े घर रखे हैं।”

अकेले पा कर मैं ने भी उस से कहा—“ब्रजनन्दन बात तो सही है। सब छापी कर के काम में लगना चाहिए धीर घर बसाना चाहिए। है कि नहीं?”  
 ब्रजनन्दन ने मुझे देखते हुए बड़े बड़े की तरह कहा—“अभी तो उमर पड़ी है, चाचा भी।”

मैं ने इस बात को ब्याख्या नहीं बढ़ाया।  
 जब पिछकी के पार हवाकार की सीमवार की अंगसवार की धीर आन

कुपवार को भी सवेरे-ही-सवेरे छत्र पर भित रोटी के भिज कीलों को पुकार पुकार कर बुलाये-बिखानेवाली यह भी लक्ष्मी बेक रहा हूँ सो क्या जाह्नवी है ? जाह्नवी को मैं ने एक ही बार देखा है, इसलिए, मन को कुछ निश्चय नहीं होता। अब भी इतना ही माधव्य धाम उस जाह्नवी में धमिक पा। पर यह वहीं है जाह्नवी नहीं है, ऐसी दिवासा में मन को तनिक भी नहीं दे पाता हूँ। सवेरे-सवेरे इतने कीए कुसा भिती है कि सुन दीकतों हो नहीं, काने-काह बे-ही-ने बीसते हैं। और वे भी उस के चारों ओर ऐसी छीन म्पट सी करते हुए उड़ते रहते हैं माना बड़े स्वाद से बड़े प्रय से बोंप-बोंप कर उड़े जाने के लिए धापस में बदाबरी मचा रहे हैं। पर उन से चिरी बह कइती है—“घामो कीमो घामो।” अब वे जा जाते हैं तब गाती है—

कापा चुन-चुन छाड़यो !

और अब जाने कहां-कहां के कीए हकट्टे के हकट्टे काँव-काँव करते हुए चुन-चुन कर खाने लपते हैं और छिड़ भी झाँक-झाँक कर के उस से भी व्यावा माँपने लपते हैं तब वह चीख मचा कर बिस्साती है कि मो रे कापा नहीं य हो रेंगा मत छाड़यो !  
मत छाड़यो-  
पीठ बिलस की घात !

—‘बंनैय की कहानियाँ’— भाग ३ से



## जैनेन्द्र जी की कृतियों के प्रथम संस्करण

- फानी (१९२६) कहानी-संग्रह साहित्य प्रकाशन दिल्ली ।  
 परस (१९३०) उपन्यास हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर, बम्बई ।  
 बातामन (१९३०) कहानी-संग्रह हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर बम्बई ।  
 एक रात (१९३२) कहानी-संग्रह हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर, बम्बई ।  
 तपोभूमि (१९३२) उपन्यास (सह लेखक जयचरण जैन) साहित्य प्रकाशन दिल्ली ।  
 नीलम देव की राज कथा (१९३३) कहानी-संग्रह हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर बम्बई ।  
 मुनीठा (१९३४) उपन्यास साहित्य प्रकाशन दिल्ली ।  
 जैनेन्द्र के बिचार (१९३४) निबन्ध-संग्रह (सम्पादक-प्रभाकर नाथ) हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर बम्बई ।  
 दो बिक्रियाँ (१९३५) कहानी-संग्रह चिन्ताक कटोर दिल्ली ।  
 महासिन्धी (१९३६) (अनुदित नाटक मैथिलिक) गंगा पुस्तक माला मथुरा ।  
 रमायण (१९३७) उपन्यास हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर बम्बई ।  
 भ्रम में ब्रजवास (१९३८) अनुदित कहानी-संग्रह (टांगस्टाय) मन्दा साहित्य मन्दास दिल्ली ।  
 प्रस्तुत प्रश्न (१९३९) प्रश्नोत्तर (प्रश्नकर्ता श्री हरदयामणिद्वी मीठी श्री मजानन पोनवार और श्री प्रभाकर नाथ) हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर बम्बई ।  
 बस्याणी (१९४०) उपन्यास हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर, बम्बई ।  
 एक की बात (१९४१) निबन्ध-संग्रह मन्दा साहित्य मन्दास मन्दा दिल्ली ।  
 नाथ (१९४८) कहानी-संग्रह राजकमल प्रकाशन दिल्ली ।  
 धुब दास (१९४९) कहानी-संग्रह हिन्दी प्रकाशन मन्दिन, इलाहाबाद ।  
 अजयगिरी (१९५०) कहानी-संग्रह पूर्वीय प्रकाशन दिल्ली ।  
 पूर्वीय (१९५१) निबन्ध संग्रह पूर्वीय प्रकाशन दिल्ली ।  
 गुण (१९५१) उपन्यास पूर्वीय प्रकाशन दिल्ली ।



शेष-विचार (१९५९) निबंध-संग्रह, पूर्वोदय प्रकाशन, दिल्ली ।

निर्घट (१९५९) उपन्यास, पूर्वोदय प्रकाशन, दिल्ली ।

व्यतीत (१९५९) उपन्यास, पूर्वोदय प्रकाशन, दिल्ली ।

जैन-ग्रन्थ की कहानियाँ (संशोधित संस्करण) कहानी-संग्रह पूर्वोदय प्रकाशन  
प्रथम भाग भाग दिल्ली ।

साहित्य का श्रेय और श्रेय (१९५९) निबंध संग्रह, पूर्वोदय प्रकाशन, दिल्ली ।

काम श्रेय और परिवार (१९५९) प्रश्नोत्तर (प्रश्नकर्ता सुशीला प्रघनाल)  
पूर्वोदय प्रकाशन, दिल्ली ।

मन्थन (१९५९) निबंध-संग्रह पूर्वोदय प्रकाशन, दिल्ली ।

पाप और प्रकाश (१९५९) अनुचित नाटक (टालस्टॉय) पूर्वोदय प्रकाशन  
दिल्ली ।

वे और वे (१९५९) गैरपरिचित पूर्वोदय प्रकाशन, दिल्ली ।

जयशर्मा (१९५९) उपन्यास पूर्वोदय प्रकाशन, दिल्ली ।

बामा प्रथम भाग (१९५९) अनुचित उपन्यास (एलेक्जेंडर क्यूपिन) पूर्वोदय  
प्रकाशन, दिल्ली ।

जैन-ग्रन्थ की दो कहानियाँ (१९६०) कहानी-संग्रह पूर्वोदय प्रकाशन, दिल्ली ।  
भाग भाग

मामा भाग तीसरा (१९६१) अनुचित उपन्यास (एलेक्जेंडर क्यूपिन) पूर्वोदय  
प्रकाशन, दिल्ली ।

समय और हम (१९६२) प्रश्नोत्तर (प्रश्नकर्ता श्रीदेवी कुल) पूर्वोदय प्रकाशन  
दिल्ली ।

इतस्तुत (१९६२) निबंध-संग्रह पूर्वोदय प्रकाशन, दिल्ली ।

जैन-ग्रन्थ की कहानियाँ तथा भाग (१९६४) कहानी-संग्रह पूर्वोदय प्रकाशन  
दिल्ली ।

प्रथम-प्रकाश (१९६५) उपन्यास पूर्वोदय प्रकाशन, दिल्ली ।

परिचय (१९६५) निबंध-संग्रह पूर्वोदय प्रकाशन, दिल्ली ।

राष्ट्र और राज्य (१९६५) पूर्वोदय प्रकाशन, दिल्ली ।

